महात्मा-गांधी के विचारों पर वेदान्त का प्रभाव

IMPACT OF VEDANTA ON THE THOUGHTS OF MAHATMA-GANDHI

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिये प्रस्तुत]

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता
अशोक कुमार सिंह

पर्यवेक्षक
डा० कौशल किशोर श्रीवास्तव
एम०ए०, डी० फिल०
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद

१९९६

निवेदन

भारतीय चितन मे भौतिकता का स्थान गौण है । आध्यात्मिकता का यहाँ प्राधान्य है । इसी विचार ने हमे दर्शन का अध्ययन करने हेतु प्रेरित किया । तत्पश्चात् मैने अपनी स्नातकोत्तर उपाधि दर्शन-विषय मे प्राप्त किया । स्नातकोत्तर उपाधि के पश्चात् इस जगत् को व्यावहारिक तथा पारमार्थिक रूप मे जानने की उत्कट इच्छा के फलस्वरूप मेरे मन मे दर्शन विषय को लेकर शोध करने का विचार हुआ । जगत् की व्यावहारिकता तथा पारमार्थिकता का स्पष्ट विवेचन हमे वेदान्त-दर्शन मे देखने को मिलता है । जब मुझे शोध करने हेतु "महात्मा गाँधी के विचारो पर वेदान्त का प्रभाव" शोध-विषय के रूप मे मिला तो मैं अति प्रसन्न हुआ । क्योकि मेरे सज्ञान मे गाँधी से ज्यादा व्यावहारिक महापुरूष देखने को नही मिलता । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे इसी महापुरूष के विचारो पर वेदान्त का क्या प्रभाव पडा इसका एक समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

यह श्रद्धेय गुरू एव निर्देशक डॉ0 कौशल किशोर श्रीवास्तव (वरिष्ठ प्रवक्ता, सस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) की स्नेहिल कृपा का फल है कि शोध-प्रबन्ध अपने इस रूप को पा सका । उन्ही की प्रेरणा तथा सम्बल से मैने इस शोध-कार्य को प्रारम्भ किया था । इनके सहज लभ्य, स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन, योग्य-निर्देशन एव बहुमूल्य सुझावो से मुझे बहुत सहायता मिली है । इतना ही नही मुझे इस अध्ययन काल मे उनसे भ्रातवत् वात्सल्य भी मिला जिसे मै अपना परम सौभाग्य मानता हूँ । गुरूवर्य को धन्यवाद ज्ञापन करना घृष्टता होगी तथा उनके महत्व को घटाना होगा ।

मै अपने पूज्य पिता श्री के0डी0 सिंह प्राचार्य तथा पूज्या माँ श्रीमती दुलारी देवी एव अपने बडे भाई श्री अजय कुमार सिह एव श्री अनिल कुमार सिह का हृदय से आभारी हूँ जिन्होने अनेक अडचनो के झझावत को अडिग चट्टान की भाँति झेलकर मुझे अध्ययन से विरत नहीं होने दिया । उनसे मुझे सदैव प्रोत्साहन मिलता रहा । यह शोध-प्रबन्ध उन्हीं के आशीर्वाद से पूर्ण हो सका । मै श्रद्धेय गुरू डॉ0 रामलाल सिह दर्शन-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा डॉ0 वी0बी0 चौहान एम0ए0, पी0एच0डी0 प्राचार्य, मेरठ कालेज,

मेरठ तथा डॉ0 भगवन्त सिह दर्शनशास्त्र, विभाग प0 रवि शकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर मध्य प्रदेश के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होने मेरे प्रति अनुराग के कारण अपनी कृतियो तथा परामर्शो से मेरा कार्य सरल बनाया । मै प0 रवि शकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर, मध्य प्रदेश' तथा रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली के पुस्तकालयाध्यक्षो तथा कार्यकर्ताओ के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होने मेरे लिये वह वाछित साहित्य उपलब्ध कराया जिसके बिना इस शोध–प्रबन्ध को प्रस्तुत कर पाना सभव न होता । मै अपने सहपाठी एव घनिष्ठ मित्र कुमुदेन्द्र कलाकर सिह के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होने हमे शोध कार्य हेतु सदैव प्रोत्साहित किया । मै अपने अनेकानेक शुभ–चितको एव अन्य निकट सम्बन्धियो तथा अपने अनुज प्रवीन रजन सिह एव आनन्द सिह के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होने मुझे शोध–कार्य के प्रति प्रोत्साहित कर विविध प्रकार से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सहायता की है । इस शोध–प्रबन्ध को बडी कुशलता से टकित करने हेतु श्री सुहेल अहमद एव मुहम्मद जुबैर भी धन्यवाद के पात्र है ।

चितन के प्रति मेरी श्रद्द्धा तथा विश्वास का मूर्त रूप प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध है । गहन–चितन को शेषरूप मे आबद्ध करने हेतु यह मेरा प्रथम प्रयास है जो विद्वज्जनो के समक्ष परीक्षणार्थ प्रस्तुत है ।

दिनांक : 15–01–1996

विनयावत

(अशोक कुमार सिंह)

विषयानुक्रमणिका

प्रथम-अध्याय

गाँधी दर्शन की पूर्व-पीठिका तथा उनका जीवन-परिचय

गाँधी–दर्शन की पूर्व–पीठिका तथा उनका जीवन–परिचय

"बच्चे माँ–बाप से केवल रूप–रग ही नही, बल्कि उनके वशगत गुण भी ग्रहण करते है । निश्चित ही वातावरण का स्थान महत्वपूर्ण होता है लेकिन बालक जिस मूलाधार पर अपना जीवन प्रारम्भ करता है, वह उसे अपने पूर्वजो से ही प्राप्त होता है ।"[1]

महात्मा गाँधी के जीवन–दर्शन को भली–भाँति समझने के लिये उस परिवार और वहाँ की मिट्टी के विषय मे थोडा बहुत जानना आवश्यक होगा जहाँ उनका जन्म हुआ था । साथ–साथ एशिया, अफ्रीका और यूरोप मे उनके जीवन के बहुरगी अनुभवो से भी परिचित होना आवश्यक है, जिन सबो ने मिलकर धीरे–धीरे उन्हे 'मोहन' से 'महात्मा' बना दिया ।

भारत और भारतीय संस्कृति : विविधता में एकता :

जो भारत के विषय मे दूर–दूर से जानकारी रखते है, उनके लिये यह देश ऊँचे पर्वतो एव गहरे समुद्रो से अच्छी तरह से घिरा हुआ एक भौगोलिक प्रायद्वीप मालुम पडता है और इसीलिये वे यहाँ की जनता और सस्कृति को एक अविभाज्य इकाई समझ बैठते है । यहाँ के दर्शन को तो सहज ही मायावादी और अद्वैतवादी मान लिया जाता है । विदेशी पर्यटको को, जो जरा समीप से इस देश को देखते है, अनेक धर्मो और सम्प्रदायो, रूप–रगो, भाषाओ और वेशभूषाओं से भरा हुआ यह भारतवर्ष एक अजीब पहेली–सा मालुम पडता है । किन्तु वास्तविकता इन दोनो के बीच मे है । इन ऊपरी विविधताओ के बीच भारत की आन्तरिक एकता अत्यन्त सूक्ष्म रूप से विद्यमान है ।

पहले हम इसकी विविधता पर ही विचार करते है । एक ओर तो इसके उत्तर मे हमे विश्व की सबसे ऊँची और हमेशा हिमाच्छादित पर्वत श्रृंखलाओ के दर्शन होते है

---

1 आत्म–कथा -- पृष्ठ–381

तो दूसरी ओर दक्षिण म सागर की उत्ताल तरगे दृष्टिगोचर होती है, और इन दोना के बीच विभिन्न प्रकार की तलहटियो और जलवायु से भरा पूरा विस्तृत भू–भाग मिलेगा। यदि दुनियाँ मे सबसे अधिक वर्षा पूरब मे असम और चेरापूजी मे होती है तो दूसरी ओर पश्चिम मे राजस्थान और सिन्ध का विस्तृत मरूस्थल भी मिलेगा और इन दोनो के बीच गगा–जमुना की उर्वर शस्य–श्यामला भूमि भी दिखेगी। लगभग पाँच हजार वर्षो के उपलब्ध इतिहास मे भारत मे कितने ही प्रकार के मूल–निवासी और पश्चिम तथा पूरब से लगातार आने वाले कितने ही प्रवासियो के दल बसते गये। यहाँ के लोगो मे प्रजाति–भेद की चर्चा करते हुये कहते है कि "यही कारण है कि विश्व भर मे पायी जाने वाली प्राय जितनी नस्लो के लोग यहाँ पाये जाते है, और कही नहीं पाये जाते। कृष्णवर्ण हाब्शियो से लेकर श्वेत आद्य–आस्ट्रेलियायी, मगोल से भूमध्य–सागरीय और पाश्चात्य अचार्यों से लेकर आर्य तक प्राय सभी नस्लो के लोग यहाँ मौजूद है।"[1] स्वभावत जहाँ–जहाँ के लोग यहाँ आये, उन्होने अपनी भाषा और अपनी सस्कृति का अवदान देकर इसके कोष को समृद्ध किया। विश्व के सभी महान् धर्मों का या तो यही आविर्भाव हुआ या फिर उनको यहाँ आश्रय मिला। आज का प्रचलित हिन्दू–धर्म वस्तुत चार हजार वर्षो से भी अधिक प्राचीन वैदिक धर्म का ही विकसित रूप है। यो तो वेद भारतीय और यूरोपीय वाङमय का सम्भवत सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, जिसका प्रणयन यहीं की पवित्र मिट्टी मे हुआ। सम्भव है, इसके कुछ अश का प्रणयन यूरोप की ओर भारत मे वैदिक धर्म एव सस्कृति से अलग भगवान् महावीर ने जैन-धर्म का नव–सस्कार किया और महात्मा बुद्ध ने बौद्ध–धर्म की स्थापना की। यद्यपि प्राक्–वैदिक धर्म के विषय मे कोई ठोस और निश्चित जानकारी नहीं है फिर भी यह माना जाता है कि उस समय के लोग विश्व और शक्ति की पूजा करते थे, जिसका मूल उद्गम वैदिक नही, बल्कि द्रविड सस्कृति है। कुछ समय के बाद ही यहाँ ईसाई, जरथुष्ट्री धर्मों को भी आश्रय और सम्मान मिला। ईसा की आठवी शताब्दी के बाद यहाँ यवनों के लगातार आक्रमण शुरू हुये और अन्त मे राजसत्ता पर उनका अधिकार भी हो गया। आज इसी के फलस्वरूप यहाँ इस्लाम–धर्म के अनुयायियो की सख्या बहुत

---

1 श्री गिरिजा शकर गुह – गाँधी–दर्शन

ज्यादा है । 15वी शताब्दी के बाद यहाँ डच, फ्रासीसी एव अंग्रेज आये और उनके साथ ईसाईयों के अनेक सम्प्रदाया के लोग भी आये और उन्होने अपने--अपने धर्मपीठो की स्थापना की ।

पिछले चार हजार वर्षो की धार्मिक और सास्कृतिक परम्पराओ ने यहाँ विभिन्न दार्शनिक तन्त्रो को जन्म दिया । स्वभावत इनमे विश्व भर के प्राय सभी प्रकार के दर्शन--तन्त्रो एव पद्धतियो का समावेश हो जाता है । धार्मिक-विकास के क्षेत्र मे ईश्वरवाद से निरीश्वरवाद और बहुदेववाद को लेकर अधिदेववाद तक, ज्ञान के क्षेत्र मे अनुभववाद, सशयवाद और अज्ञेयवाद तथा सापेक्षवाद, ज्ञान--प्रामाण्य के विषय मे व्यक्ति--निष्ठावाद, बाह्य प्रत्यक्षवाद और वाह्य--अनुमेय, चरम तत्व क स्वरूप की दृष्टि से भौतिकवाद, आध्यात्मवाद और द्वैतवाद तथा सख्या की दृष्टि से अनेकवाद, एकवाद और अनियतत्ववाद इन सभी विचारधाराओ के मानने वाले लोग इसके भिन्न--भिन्न भू--भागो मे भिन्न--भिन्न कालो मे रहते आये है । काफी क्षतिग्रस्त होने के बावजूद इनके जो थोडे बहुत ग्रन्थ--साहित्य बचे है, केवल उन्ही की सख्या सहस्त्रो मे होगी । इन दर्शन--तन्त्रो के विषय मे एक बडी विशेषता रही है कि परस्पर विसवादी होते हुये भी ये विभिन्न दर्शन--तन्त्र एव परम्पराये अविच्छिन्न रूप से साथ--साथ पुष्पित और पल्लवित होते रहे हैं ।

किन्तु इतनी विविधताओ के बावजूद एकता के भी न जाने कितने सूत्र है जो हजारो वर्षों से हमे एक किये हुये है । विभिन्न कालो मे कम जनसख्या वाले क्षेत्रो मे लोगो के प्रवास के कारण भी आबादी मे कुछ हद तक गतिशीलता आयी । साथ-साथ विभिन्न जातियो और सम्प्रदायो के लोगो के बीच विवाह-सम्बन्धो के कारण भी कितनी ही जातियो का एकीकरण हुआ और उससे नवीन ढग की अखिल भारतीयता की भावना का आविर्भाव हुआ । जहाँ यह एकीकरण सम्भव नही हुआ वहाँ भी सामान्य प्रवृत्ति किसी वर्ग--विशेष के द्वारा दूसरे के उन्मूलन की नहीं रही, बल्कि यह भावना रही कि विभिन्न जातियाँ और वर्ग एक ही समाजरूपी शरीर के भिन्न--भिन्न अवयव है । इसका स्पष्ट और आकर्षक चित्र ऋग्वेद क पुरूष सूक्त मे मिलता है । इसी प्रकार विभिन्न कालो मे

सम्पूर्ण देश या इसके बडे भू-भाग पर सैनिक विजय के कारण राज्य-शासन ने भी प्रजा के भीतर एकता की भावना प्रदान करने मे मदद की । उसी प्रकार देश के सभी भागो मे समय-समय पर विभिन्न प्रबल धार्मिक-आन्दोलनो के प्रसार तथा देश के विभिन्न भागो के धर्म-पीठो और तीर्थो की स्थापना आदि के कारण भी सास्कृतिक एकता का विकास हुआ । फिर यहाँ धर्म एव सम्प्रदाय की सख्या ज्यो-ज्यो बढती गयी, कालक्रम मे उनके समन्वय का प्रयास साथ-साथ ही चलता रहा । विभिन्न मतो को मोक्ष-साधन के विभिन्न वैकल्पिक मार्गो के रूप मे स्वीकार किया गया । मनुष्य अपनी प्रकृति एव प्रवृत्ति के अनुरूप किसी एक को अपनाकर अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है । प्राचीन काल मे 'ब्रह्मसूत्र' और 'श्रीमद्भगवद् गीता', मध्य युग मे कबीर, नानक, चैतन्य जैसे सन्त और आधुनिक युग मे स्वामी रामकृष्ण परमहस जैसे साधको ने समन्वय का प्रयास किया और जनमानस को धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा दी ।

दर्शन के क्षेत्र मे भी जहाँ तत्व-मीमासा की विभिन्न विरोधी दृष्टियो का सामञ्जस्य अत्यन्त कठिन हो जाता है, वहाँ भी विज्ञानभिक्षु, मध्वाचार्य एव जैन विद्वानो ने समन्वय की दिशा मे विभिन्न सिद्धान्तो को या तो एक ही सत्य के विभिन्न वैकल्पिक दृष्टिकोण बनाया या विषयवस्तु की सूक्ष्मता और गम्भीरता की दृष्टि से उन्हे प्रस्थान - भेद माना। विचारों की इतनी अधिक विविधताओ के बावजूद सबो के नैतिक दृष्टिकोणो मे बडा साम्य है । सबने ससार को एक नैतिक रगमंच माना है, जहाँ नैतिक-नियम सर्वोच्च है । उन्ही के द्वारा नैतिक-मूल्यो का सरक्षण भी होता है । विश्व कर्म-प्रधान है इसलिये मानव अपने भाग्य का निर्माता है । निश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान, आत्म-सयम और निस्वार्थ सेवा के माध्यम से ही सभव मानी गयी है ।

<u>गाँधीजी की बाल्यावस्था</u> :

जटिल और ससृष्ट परम्पराओ से भरपूर इस देश के सुदूर पश्चिमोत्तर गुजरात राज्य के काठियावाड़ नामक दशी राज्य मे सन् 1869 ई0 मे मोहनदास करमचन्द गाँधी

का जन्म हुआ था । गाँधीजी के पूर्वज वैश्य थे, किन्तु उनके पिता और पितामह ने वाणिज्य-व्यवस्था की जगह उस प्रान्त के देशी राज्यो मे दीवान आदि पदो पर ही सेवा करना ज्यादा पसन्द किया । वे दोनो ही अपनी ईमानदारी और निष्ठापूर्ण सेवा के लिये जितने प्रख्यात थे, उतना ही प्रबल स्वाभिमान के लिये थी । उनका पूरा परिवार वैष्णव था और इसीलिये वे सगुण और साकार ईश्वर के उपासक थे । भक्ति और शरणागति इस धर्म के दो प्राण तत्व है । मन्दिरो मे पूजा और अर्चना, व्रत, उपवास आदि का वर्ष भर किसी न किसी रूप मे परिपालन करना ही एक सच्चे वैष्णव का जीवन है । गाँधीजी का जन्म इसी वैष्णव--वातावरण मे हुआ । उनकी माँ और बचपन मे पालने वाली उनकी धाय दोनो ही पूरे धार्मिक विचार की थी और गाँधीजी ने उन्ही से यह सस्कार ग्रहण किया । जीवन मे जब भी कठिनाई आयी तो भगवान के सहस्र नामो और विशेष रूप से मर्यादा पुरूषोत्तम राम के नाम के जप का सस्कार भी उन्ही से मिला ।

इसके साथ-साथ उनके आस-पास मे जैन, इस्लाम और जरथ्रुष्ट्री सम्प्रदाय के लोग रहते थे । उनमे से कितने ही गाँधीजी के पिता के अभिन्न मित्रो मे से थे जिनके साथ धार्मिक विषयो पर उनकी बराबर चर्चाए हुआ करती थी । इन सबों को सुनने का गाँधीजी को अनायास ही अवसर मिल जाता था । उन्होने लिखा है कि "अपने पिता के पुस्तकालय से गुजराती रामायण, श्रीमद् भागवत और मनुस्मृति आदि हिन्दू धर्म के मूल धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन किया था ।"[1] इसी कारण उन्होने लिखा है बचपन मे ही उनके सामने धर्म का स्वरूप थोडा बहुत स्पष्ट हो गया था । किन्तु, भारत में व्यापक रूप से फैले प्रबल ईसाई प्रचार-साहित्य, धर्म-प्रचारको एव गिरिजा घरो आदि के बावजूद अन्य हिन्दू युवको की तरह गाँधीजी ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट नहीं हो सके । वे स्वय ही इसकी एक मनोरजक व्याख्या करते हुये कहते है - "उस समय मुझे कवल ईसाई धर्म से ही एक प्रकार की घृणा हो गयी थी, क्योकि ईसाई-धर्म प्रचार के स्कूलो के पास कही खडे होकर हिन्दू-धर्म और हिन्दू देव-देवियो के खिलाफ गाली-गालौज करते रहते थे ।"[2]

1. आत्म-कथा - पृष्ठ स0 - 3
2 आत्म-कथा - पृष्ठ स0 - 5

बचपन मे गाँधीजी प्राय कुछ कोमल, सकोची और दुर्बल मस्तिष्क के थे, पढने-लिखने मे भी वे तीक्ष्ण नही थे । यद्यपि बम्बई विश्वविद्यालय मे मैट्रिक तक उन्होने गुजराती, अग्रेजी, कुछ सस्कृत और गणित भी पढा था, किन्तु सस्कृत और गणित उनके लिये बराबर पहाड ही बना रहा । किन्तु जो भी हो, वे शुरू से निष्ठावान् और अध्यवसायी थे और इसी कारण उन्हे स्कूल मे सफलता मिली ।

उन्होने अपने पडोसियो और खासकर अपनी माँ से बराबर ही 'सत्यमेव जयते' और 'अहिसा परमोधर्म' का मन्त्र सुना था । अहिसा का सिद्धान्त यो तो सम्पूर्ण हिन्दू-समाज को मान्य है, फिर भी जिस निष्ठा एव कठोरता के साथ इस सिद्धान्त का पालन वैष्णव और विशेषकर जैन-समाज करता है, वह अद्भुत है । वैष्णव और जैन-समाज की इसी अहिंसा-भावना ने गाँधीजी की जन्मभूमि मे रहने वाले गुजरातियो को भी अहिंसक और खान-पान मे निरामिष भोजी बना दिया । गाँधीजी का जन्म और विकास इसी वातावरण मे हुआ ।

किन्तु, ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटियो के माध्यम से तथा पाश्चात्य विचारो के आघातो से भारतीयों की प्राचीन चितन धाराए और परम्पराए हिलने लगी थी । नवीन शिक्षा और सस्कृति मे सम्पोषित भारत की नयी पीढी उन सदियों से चली आ रही रीति--रिवाजों और परम्पराओ के विरूद्ध यदि खुलकर नही तो अन्तकरण से विद्रोह प्रकट करने लगी थी, जिन्हे उसने अपनी अनेकानेक दुर्बलताओ और राजनीतिक परतन्त्रता के मूल मे पाया । किशोरावस्था मे गाँधीजी इसी वातावरण से प्रभावित कुछ अधिक उम्र के विद्यार्थियो के सम्पर्क मे आये, जो लुक-छिपकर धूम्र-पान या मासाहार किया करते थे । ये सब चीजे घरो मे पूरी तरह वर्जित थी । गाँधीजी ने कुछ पैसे भी चुराकर इन वस्तुओ पर खर्च किये । किन्तु, शीघ्र ही उनमे प्रायश्चित का भाव आया और उन्होने आत्मबल बटोरकर दण्ड प्राप्त करने की पूरी तैयारी रखकर पिता के सामने सब कुछ खोलकर कह दिया । उनके पिता ने चुपचाप दुख के आँसू बहाकर उन्हे बिल्कुल क्षमा कर दिया ।

इससे उनका सारा पाप घुल गया और छिपाकर काई भी काम कराना सदा के लिये ही भूल गये । इस घटना से उन्होने सत्य और अहिंसा का दोहरा पाठ सीखा । सत्यनिष्ठा से किस प्रकार करूणा जागृत हो सकती है और शान्ति एव नीरव करूणा भी किस प्रकार हृदय--परिवर्तन कर सकती है, उपर्युक्त उदाहरण इनके प्रत्यक्ष प्रमाण है । इसी से उनके हृदय मे सत्य और अहिसा का बीजवपन हुआ, जो उनके जीवन मे धीरे-धीरे अधिक व्यापक और विकसित होता गया ।

उन्होने इस घटना का उल्लेख करते हुये लिखा है, "यह घटना सचमुच मेरे लिये अहिसा का पाठ सिद्ध हुआ । जब यह अहिसा सर्वव्यापिनी हो जाती है तो फिर इसकी शक्ति का कोई अन्त नही रहता । यह जिसका सस्पर्श करती है, उसका हृदय-परिवर्तन हो ही जाता है ।"[1]

इंग्लैण्ड में – विद्यार्थी के रूप में :

पिता की मृत्यु के बाद गाँधीजी के बडे भाई ने, जो घर के कर्ता भी थ, और स्वय एक वकील थे, गाँधीजी को 1888 ई0 में वकालत पढ़ने के लिये विलायत भेजा । किन्तु, उन्हे विदेश जाने की अपनी माँ की आज्ञा तभी मिली जब उन्होने वहाँ बिल्कुल निरामिष रहने एव कुसगति से हमेशा दूर रहने के लिये दो प्रतिज्ञाए की । उनके द्वारा स्वीकार किये गये इन दोनो व्रतो और माँ के प्रति उनके हृदय मे अपार स्नेह एव भक्ति ने उन्हे लदन मे कई बार पाप के गहरे गर्त मे जाने से बचा लिया । व्रतो के विषय मे उनके अनुकूल अनुभवो ने ही अपनी पवित्र आकांक्षाओ की पूर्ति के निमित्त कई बार कितने ही व्रत धारण करने मे उनको अपूर्व सहायता की । अपने अनुभवो के आधार पर उन्होने हिन्दू एव जैन-धर्म ग्रन्थो मे व्रत के महत्व का प्रबल रूप से समर्थन किया ।

इंग्लैण्ड मे उन्होने पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति की प्राय सभी अच्छी बातो

---

1. आत्म-कथा – पृष्ठ स0 – 356

को परिश्रमपूर्वक अभ्यास करके अपनाया । वकालत का पेशा उन्हे बहुत आकर्षक नहीं लगा और इसलिये अपने जीवन मे अनेक प्रयोग करने के लिये उन्हे अवसर मिले । लदन मे मैट्रिक-परीक्षा के क्रम मे उन्होने लैटिन, फ्रेच, इगलिश और प्रारम्भिक विज्ञान की जानकारी हासिल करने के लिये व्यापक बौद्धिक साधना की । उन्होने पाश्चात्य नृत्य और संगीत सीखने की भी कोशिश की, हालाँकि वे इसमे सफल नहीं हो सके । लेकिन वे अपना बहुत सारा समय पुस्तको, परिचर्चाओ विचार गोष्ठियो और व्यक्तिगत चर्चाओ मे लगाकर यूरोप के बहुत सारे नैतिक, धार्मिक और यहाँ तक कि आहार सम्बन्धी आन्दोलन से भी परिचित हुये । यही नही, उन्होने यूरोप के अनेक साहित्यकारो और कलाकारो के माध्यम से भारतीय सस्कृति की कुछ महान् कृतियो को जाना और उनके महत्व को समझा । एक दिन अर्नाल्ड की 'एशिया की ज्योति' (लाइट आफ एशिया) नामक पुस्तक ने भगवान बुद्ध के जीवन का मर्म-स्पर्शी प्रभाव उन पर डाला और अर्नाल्ड कृत 'श्रीमद् भागवद् गीता' का अग्रेजी पद्यानुवाद ने उन्हे गीता का अनन्य भक्त बना दिया । उन्होने ईसाई धर्म की पुरानी पुस्तक (ओल्ड टेस्टामेट) मे तो डुबकियाँ लगायीं ही थी, नवीन पुस्तक भी पढकर वे अत्यन्त प्रभावित हुये थे । उन्होने स्वय ही इस प्रभाव का वर्णन करते हुये लिखा है, "न्यू टेस्टामेट ने तो मुझ पर अद्भुत प्रभाव डाला और विशेषकर 'पर्वत के उपदेश ने तो सचमुच मेरी आत्मा को झकृत कर दिया । विशेषत यह संगीत कि – 'तुम दुष्टो के प्रति हिसा का भाव न रखो । जो तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड मारे, तुम अपना बायाँ गाल उसके सामने कर दो ।' मै गीता से उसकी तुलना करने लगा । मेरे किशोर जिज्ञासु मन ने 'गीता', 'एशिया की ज्योति' और 'पर्वत के उपदेश' के विचारो मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया । 'त्याग ही धर्म का मूल है' इस बात ने मुझे बेहद परेशान किया ।"[1]

ब्रह्मसमाजियो और उनके साहित्य से सम्पर्क होने के कारण उनके हृदय मे धर्म-समन्वय के लिये आन्दोलन करने की प्रेरणा हुई । कार्लाइल की प्रसिद्ध पुस्तक 'वीर और वीर पूजा' से उन्होने पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब की महानता, वीरता और साधनामय

---

1. आत्म-कथा -- पृष्ठ-92

जीवन का पाठ सीखा । कानून के अध्ययन से भी उन्होने दो महत्वपूर्ण बाते ग्रहण की – पहली बात तो यह कि तथ्यो की निस्पृह खोज ही कानून का आधार है । उन्होने इसे अपने जीवन मे कानूनी और राजनैतिक वामो मे इसका प्रयोग किया । वास्तविक तथ्यो की इस साधना का उनकी सत्यनिष्ठा से खूब मेल बैठता है । उन्होने सर्वदा धैर्य और परिश्रम से तथ्यो का सग्रह किया और उन्हीं प्रामाणिक तथ्यो पर यह छोड दिया कि उनसे क्या अनिवार्य परिणाम निकलते है ? गाँधीजी को कानून की दूसरी बडी देन यह मिली थी कि इसी के कारण उनके मन पर 'सरक्षण–सिद्धान्त' की अमित छाप पडी, जिसका उन्होने पीछे सम्पत्ति के समान वितरण के लिये प्रयोग किया था । इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होने अमीरो को यह समझाने का प्रयास किया कि वे जनता की सम्पत्ति के सरक्षक है, इसलिये उन्हे इसको जन--कल्याण के लिये ही खर्च करना चाहिये । लदन मे अपने प्रवास के दौरान गाँधीजी ने खूब मितव्ययिता से खर्च करने का और एक–एक पायी का सही–सही दैनिक हिसाब रखने का प्रयास किया था, जिसके कारण उन्होने आजीवन सार्वजनिक कोष को सुव्यवस्थित ढ़ग से संचालित करने मे सफलता पायी थी ।

सब मिलाकर हम यह कह सकते है कि बैरिस्टरी पास करने के बाद वकालत करने के लिये सन् 1891 ई0 मे जब वे लन्दन से भारत लौटे, तब तक उनके जीवन के आधारभूत सिद्धान्त परिपक्व हो चुके थे और तद्नुरूप वे उनके परिपालन मे अभ्यस्त भी हो चुके थे । इस समय तक उनका एक ऐसे जीवन–दर्शन की ओर झुकाव हो गया था जिसे उनके अनुसार ससार भर के महान् मनीषियो ने आदर्श रूप मे प्रतिष्ठित किया था और प्राची और प्रतीची का समन्वय कर सकता था ।

अफ्रीका में : एक वकील तथा सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में :

भारत, दक्षिण अफ्रीका और फिर अन्त मे भारत मे गाँधीजी का पिछला जीवन सचमुच उनके प्रारम्भिक जीवन के मूलभूत सिद्धान्तो का विभिन्न क्षेत्रो मे विस्तार और प्रयोग मात्र रहा है ।

बिना बहुत अधिक सफलता पाये और शुरू मे भारत मे कुछ दिनो तक वकालत करने के बाद वे एक मुसलमान व्यापारी के मुकदमे की तैयारी और उसका सचालन करने के लिये दक्षिण--अफ्रीका गये । महीनो तक उन्होने सभी आवश्यक तथ्य प्राप्त करने के लिये घोर परिश्रम किया । साथ-साथ आवश्यक कानूनो का और यहाँ तक कि खाता-बही आदि का गहरा अध्ययन किया । सत्य की इस एकान्त निष्ठा के कारण ही उन्होने मुकदमे के विषय मे उतनी जानकारी हासिल कर ली, जितनी दोनो पक्षो के मुकदमा लडने वाले व्यापारियो को भी नही थी । इस प्रकार सारी परिस्थितियाँ उनके नियन्त्रण मे आ गयी । फिर उन्होने दोनो दलो के लोगो को मुकदमेबाजी मे बर्बाद होने से बचने के लिये समझौता कर लेने के लिये राजी कर लिया । उसके बाद अगले बीस वर्षो तक वे वकालत मे इसी सिद्धान्त का पालन करते रहे । इससे एक ईमानदार वकील के रूप मे उनकी प्रतिष्ठा और साथ-साथ आमदनी भी बढी, किन्तु वे सर्वदा सत्य और न्याय का पक्ष लेते रहे और कानूनी झगडो को समाप्त कर दोनो दलो मे प्रेम और सद्भावना की स्थापना करते रहे । इस प्रकार उन्होने अपने और अपने मुवक्किलो के ईमान को बचाया, जिससे उन्हे अपार आदर मिला ।

दक्षिण-अफ्रीका मे उन्होने क्वेकर-सम्प्रदाय के भक्तो तथा अन्य कई भले ईसाईयो के निकट सम्पर्क मे आकर ईसाई-धर्म के विषय मे विशेष अध्ययन किया । उन पर कुछ भले मुसलमानो का भी प्रभाव पड़ा और उन्होंने तद्नुसार इस्लाम का भी अध्ययन किया। ब्रह्म-समाज ने भी इन्हे प्रभावित किया । इसलिये उन्होने विशाल दृष्टिकोण से हिन्दू--धर्म का मनन किया । गीता, वेदान्त योग, जैन-धर्म और रामकृष्ण परमहस के विख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थ उन्हे अत्यन्त प्रिय थे ।

स्वामी विवेकानन्द के द्वारा वेदान्त की आधुनिक प्रभावपूर्ण व्याख्या की उस समय भारत और भारत के बाहर, यूरोप और अमेरिका मे बड़ी ख्याति थी । सन्त स्वभाव के व्यापारी भाई रामचन्द जी ने एक आदर्श हिन्दू चरित्र के रूप मे उन्हे प्रभावित किया । टालस्टाय और रस्किन के द्वारा ईसाई-धर्म की नयी व्याख्या एवं व्यक्तिगत एवं सामाजिक

जीवन मे उसके प्रयोगो को भी उन्होने अच्छी तरह जाना और समझा था । इसके विषय मे गाँधीजी लिखते है कि – "आधुनिक युग के तीन मनीषियो ने मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव डालकर मुझे अपनी और बेहद खीचा है । रामचन्द भाई का जीवन, टालस्टाय का ग्रन्थ", तुम्हारे हृदय मे ईश्वर का राज्य" और रस्किन की पुस्तक 'अन्त्योदय' ये तीन मेरी प्रेरणा के स्रोत रहे है ।'[1]

टालस्टाय द्वारा ईसाई धर्म की आध्यात्मिक व्याख्या और भगवान के अन्तर्रात्मा मे निवास करने की दिव्य–कल्पना ने ईसाई धर्म को वेदान्त के आत्मतत्व के अत्यन्त समीप ला दिया । उसी प्रकार 'पर्वत के उपदेश' के अन्तर्निहित घृणा का प्यार और दुष्टता को मैत्री से जीतने का दिव्य सन्देश उन्हे बुद्ध की करूणा और महावीर की अहिसा का ही सामाजिक प्रयोग मालूम पडा । टालस्टाय ने अपने ग्रन्थ मे क्वेकारो और कुछ अन्य समुदाय के लोगो द्वारा अमरीका मे बुराईयो के प्रति अप्रतिरोध सिद्धान्त के प्रयोगों की विस्तार से चर्चा की है, जिससे टालस्टाय का उस सिद्धान्त मे आत्म--विश्वास दृढ हुआ । इस प्रकार वे टालस्टाय के द्वारा परोक्ष रूप से इन अमरीकी ईसाईयो से भी प्रभावित हुये । किन्तु, प्रत्यक्ष रूप से गाँधी अमरीकी समाज–सुधारक और लेखक हेनरी डेविड–श्यूरो से प्रभावित थे, जिनकी पुस्तक 'सविनय अवज्ञा' का उन्होने अत्यन्त श्रद्धा और निष्ठा से अध्ययन किया था । रस्किन की पुस्तक से गाँधीजी ने शरीर–श्रम की प्रतिष्ठा, समाज के कल्याण मे ही व्यक्ति का कल्याण तथा हर व्यक्ति की अपनी योग्यता और निष्ठा के अनुसार समाज सेवा के लिये तत्परता – ये तीन पाठ ग्रहण किये ।

ये सभी मन्त्र उनकीजीवन–निष्ठा के आवश्यक अग बन गये और गाँधीजी उनकी ओर अकृत्रिम भाव से प्रेरित होते रहे । दक्षिण–अफ्रीका मे रंगभेद अपनी सीमा पर था और यूरोपीय शिक्षा--दीक्षा, वेश–भूषा और मान–मर्यादा के बावजूद गाँधीजी को अक्सर अपमानित होना पड़ता था, जिसने उनके मन मे विद्रोह की भावना पैदा की और फिर उस अन्याय

---

1. आत्म–कथा – पृष्ठ – 114

का उन्होने डटकर विरोध किया । किन्तु, रगभेद मे मदान्ध शासको का इस पर कोई असर नही हुआ और उन्होने उन्हे और अधिक अपमानित किया । यहाँ तक कि कभी-कभी कष्ट भी पहुँचाने का प्रयत्न किया । ब्रिटिश शासको ने भारतीयो के नागरिक एव अन्य अधिकारो को समाप्त करने के लिये भेद-मूलक कानून बनाये । उन सब परिस्थितियो ने बुराईयो का प्रेम द्वारा प्रतिकार करने की भावना उनके हृदय मे पैदा की । इसी सिलसिले में उन्होने निष्क्रिय-प्रतिरोध, अनैतिक-कानूनो की सविनय अवज्ञा, चुपचाप प्रहार सहते जाना, कारावास एव प्रतिकार, घृणा का आक्रोश बिना व्यक्त किये हुये सब प्रकार के कष्टो को सहना शुरू किया । उन्होने यह सोचा कि शायद इससे पाषाण-हृदय शासको के हृदय मे करूणा और दया का उद्रेक होगा और अन्ततोगत्वा वे अपनी भूलों को सुधारेगे। गाँधीजी ने यह पद्धति इसलिये अपनायी कि उन्हे ब्रिटेनवासियो की आन्तरिक सदाशयता मे दृढ आस्था थी । उनका विश्वास था कि अपने पक्ष की न्यायपूर्ण एव उचित मागो को, प्रभावकारी ढग से उपस्थित करने से सद्भावना सहज ही जाग्रत हो सकती थी । सघर्ष की अहिंसक पद्धति ही अन्त मे सफल भी हुई ।

इस सफलता के पीछे उनकी व्यक्तिगत दीर्घकालीन साधना, उनके अपने त्यागमय जीवन तथा सत्य एव न्याय के प्रति उनकी दृढ आस्था से समुत्पन्न आत्म-विश्वास था, जिससे कार्यकर्ताओ को स्वत प्रशिक्षण मिलता था । उन्होनि सोचा कि यदि उनकी सर्वान्तकरण से समाजसेवा करनी है तो उन्हे रूपये-पैसे का मोह और भौतिक-समृद्धि की आकाक्षा को त्यागकर बिल्कुल सरल और सयमित जीवन बिताना होगा, जो दूसरो के लिये भी उदाहरण बन सके । इसी कारण उन्होने जीवन मे कई प्रकार के नियम और अनुशासन अपनाये तथा कई प्रकार के प्रयोग भी किये । इसी क्रम मे उन्होने ने एक बार ग्रामीण कृषक सेवा शुरू कर सरल जीवन और उच्च विचार के सिद्धान्त के आधार पर एक सयुक्त परिवार की स्थापना में एक ही विचार के विभिन्न राष्ट्रों तथा श्वेत और श्याम - विभिन्न वर्णों के लोगों को आकृष्ट किया । यह एक बडे अन्तर्राष्ट्रीय परिवार के रूप में विकसित हुआ जिसका सम्मिलित भोजनागार तथा सामूहिक स्वामित्व था । सभी सदस्य अपनी-अपनी शक्ति और

योग्यता के आधार पर श्रम करते थे । दक्षिण–अफ्रीका मे अपने दीर्घकालीन प्रयोगो मे गाँधीजी ने जीवन के प्राय सभी क्षेत्रो मे काम किया, जो किसी एक व्यक्ति के लिये उसके जीवन काल मे शायद सम्भव नही है । उन्होने शिक्षक, लेखक, सम्पादक, माली, नाई, दर्जी, मोची, कम्पाउण्डर, नर्स, धाई, प्राकृतिक–चिकित्सक और न जाने किस–किस रूप मे काम किये । कई बार जब ब्रिटिश सरकार युद्ध मे शामिल हुई तो उन्होने अपने प्रभाव से भारतीयो का 'चिकित्सा--दल' खडा कर युद्ध–भूमि से घायलो को लाने का प्रयास किया। निस्वार्थ सेवा ने उनके हृदय को विशाल बनाया, उनकी आस्थाओ को दृढ किया, उनके समर्थको एव अनुयायियो को बढाया, और अन्त मे उनके मौन त्याग ने दुनियाँ भर के लोगो मे उनके प्रति आदरभाव उत्पन्न किया । दुनियाँ के लोगो ने यह समझा कि धर्म और नैतिकता मे ऊँचे आदर्शों को राजनैतिक जीवन में भी उतारा जा सकता है ।

भारत में : एक सामाजिक एवं राजनैतिक नेता के रूप में :

अफ्रीका मे बीस वर्षों के अपने अद्भुत अनुभवो के बाद गाँधीजी भारत लौटे और अपने को मातृभूमि की सेवा के लिये समर्पित कर दिया । उनके निकट के कई सहयोगी भी उनके साथ भारत आये और सबो के साथ मिलकर गाँधीजी ने गुजरात के साबरमती नामक स्थान पर खेती और कार्यकर्ता प्रशिक्षण का केन्द्र स्थापित किया और उसको सत्याग्रह आश्रम का नाम दिया । किन्तु, उनका मुख्य ध्यान समाज–सेवा की ओर था । छुआछूत, पर्दा आदि अनेक सामाजिक रूढ़ियों के निर्मूलन, हिन्दू–मुस्लिम एकता, बहुसख्यक और वर्ष के कुछ हिस्सो मे बेकार रहने वाले ग्रामीणो को कताई–बुनाई आदि रोज़गार दिलाने वाले कुटीर उद्योगो के विस्तार और विकास आदि अनेक रचनात्मक कार्यक्रमों के प्रति वे कृतसकल्प थे । धीरे–धीरे किसानो और मजदूरो ने भी अपनी समस्याओ के समाधानार्थ उन्हे अपने बीच आमन्त्रित किया । उन्होंने सच्चाई और प्रेम के बल पर लोगो को सगठित कर उन्हे अहिसक सैनिक बनाकर पूँजीपतियों और ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध अपने न्यायोचित सघर्ष में अन्तत विजयी बनाया । अपने सघर्ष के अहिंसात्मक तरीके की उत्तरोत्तर सफलता के कारण, गाँधीजी ने करोडो लोगो के हृदय मे सर्वोच्च नेता के रूप मे स्थान बना लिया ।

गाँधीजी इस बात से पूर्णत सहमत थे कि सघर्ष की जो पद्धति छोटी–छेटी समस्याओ के समाधान मे सफल हुई, उसे राजनैतिक परतन्त्रता के निर्मूलन के रूप मे देश की सबसे बडी समस्या के समाधान मे भी प्रयोग मे लाया जा सकता है । किन्तु, यह तभी सम्भव है, जब जनता सत्य और अहिसा के रास्ते पर कायम रहे । इसके लिये गाँधीजी ने सर्वप्रथम लोगो को अपना ही आत्म–विश्लेषण करने की सलाह दी ताकि वे स्वय अपने उन दोषो को जान सके, जिनके कारण विदेशी शासन सम्भव हो सका । इसके लिये गाँधीजी ने अपने दोषो को दूर कर आत्म--शुद्धि की सलाह देते हुय स्वतन्त्र होने के लिये कृतसकल्प होने की बात रखी । फिर भी यदि शासक नही हटते है तो सरकार से सभी प्रकार के सहयोग हटा लेना होगा । उससे सरकार के शासन–तन्त्र स्वत ही छिन्न–भिन्न हो जायेगे क्योकि कोई भी सरकारी प्रशासन आखिर जनता के सहयोग पर ही निर्भर रहता है । किन्तु, इसे आसान तरीका नहीं मानना चाहिये । अपनी निरन्तर चेष्टाओ, अनवरत तपस्याओ और आगणित यन्त्रणाओ के उपरान्त ही गाँधीजी ने अन्त मे भारत को 1947 ई0 मे स्वतत्रता दिलायी । हाँ, सामान्य रूप से सम्पूर्ण विश्व और विशेष रूप से अमरीका ने भी ब्रिटिश सरकार पर नैतिक दबाव डाला । गाँधीजी के ऊँचे आदर्शों एव उनकी सघर्ष की अहिसात्मक पद्धति ने अमरीकी सहानुभूति प्राप्त करायी ।

किन्तु, गाँधीजी के लिये भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता अपने आप मे कोई साध्य नही, बल्कि एक साधन मात्र थी । यदि अहिसक पद्धति से भारत को स्वतन्त्रता मिली तो फिर भारत एव विश्व की अन्य समस्याओ के समाधान के लिये भी इसका प्रयाग किया जा सकता है । इसीलिये अस्सी वर्ष की वृद्धावस्था मे भी उन्होने निखिल मानवता के प्रति करूणा से प्रेरित होकर ही जीवन के अन्त तक कठोर कर्मयोग और प्रार्थना के अपने दैनिक कार्यक्रमो से सामाजिक असामञ्जस्य एवं बुराईयों को दूर करने का अपना व्रत चालू रखा ।

गाँधीजी के जीवन तथा उनके प्रयोगो के विषय मे कोई भी वृतान्त तब तक अधूरा रहेगा जब तक कि छाया की तरह उनके साथ रहने वाली उनकी जीवन–सगिनी कस्तूरबा

का परिचय नही दिया जाये । कस्तूरबा अपने बचपन से लेकर जीवनपर्यन्त तक गाँधीजी के साथ रही । दोनो के शरीर, मन और आत्मा का एक तरह से विकास हुआ, दोनो ने अपने चारो लडको और गोद ली गयी 'हरिजन–पुत्री' का साथ–साथ लालन–पालन किया, मिलजुल कर अपने छोटे परिवार या दक्षिण–अफ्रीका और भारतवर्ष मे अपने आश्रम मे विश्व–कुटुम्ब के लिये खाना बनाने और बर्तन साफ करने का काम उठाया । 'बा' सचमुच अपने को शून्य मे विलीन कर देने वाली भारतीय नारी की त्यागमयी परम्परा की प्रतीक थी, जिन्हे न अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की और न स्वतन्त्र मान्यता की आकाक्षा थी । अपने पति के व्यक्तित्व मे अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व आत्मसात 'बा' को स्वत ही अपार गौरव और प्रतिष्ठा मिली । वह उनके साथ भारत से अफ्रीका तक, परिवार से आश्रम तक और रसाई से बन्दीगृह तक साथ–साथ रही । जिस प्रकार गाँधीजी ने अपने क्षुद्र व्यक्तिगत जीवन की आकाक्षाओ को भुलाकर पीडित और पद दलित मानवता की प्रतिमूर्ति भगवान की भक्ति के प्रतीक मानव–प्रेम एव सेवा को धीरे–धीरे अपनाया, उसी प्रकार कस्तूरबा ने भी अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ उसी पथ पर चलने के लिये जीवन मे कठोर सघर्ष किया । धीरे–धीरे उन्होने भी पार्थिव–प्रेम के बदले आध्यात्मिक–प्रेम की ओर बढने मे गाँधीजी की भरपूर सहायता की जिसके कारण गाँधीजी अपनी सम्पूर्ण शक्ति सामाजिक और राजनीतिक कार्यों के ऊपर केन्द्रित कर सके ।

यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि कस्तूरबा विनम्र स्वभाव की तथा सर्वदा स्वेच्छया अधीनता मे रहने वाली थी, फिर भी गाँधीजी उनका लोहा मानते थे और उनसे थोडा डरते भी थे । उदाहरण के लिये गाँधीजी एक बार शूल के कारण मरने–मरने पर हो गये किन्तु कोई डाक्टर उन्हे यह समझाने में सफल नही हो सके कि वे दूध नही पीने का व्रत छोड दे । यह कस्तूरबा ही थी जो उन्हे इस व्रत को तोडकर बकरी का दूध ग्रहण करने को बाध्य कर सकी, जिससे उनकी प्राण रक्षा हुई । गाँधीजी के अमरीकी जीवनी लेखक लुई फिशर ने इस प्रसग मे ठीक ही कहा है "गाँधी न किसी आदमी से डरते थे, न किसी सरकार से, न उन्हे कारावास की फिक्र थी, न दरिद्रता और मृत्यु का ही भय

था । किन्तु यह सही है कि वे अपनी जीवन सगिनी कस्तूरबा से भय खाते थे ।" कस्तूरबा आत्म-विसर्जन से उद्भूत प्रेम की यह शक्ति थी ।

ससार ने 'बा' की मौन सेवा और महानता का तभी सही-सही मूल्याकन किया, जब मृत्यु ने उनकी आत्मा को उसके जर्जर शरीर के बोझ से मुक्त कर दिया । फिर तो वह एकाएक सम्पूर्ण राष्ट्र की माता के रूप मे स्मरण कीजाने लगी और इसीलिये सबो ने उन्हे 'बा' कहना शुरू किया । इसीलिये तो कस्तूरबा के स्मारक के लिये जब अपील निकली तो सम्पूर्ण राष्ट्र ने समाज--सेवा कार्य के लिये एक करोड से अधिक रूपये निर्धारित अवधि से पहले ही एकत्र कर दिया ।

गाँधी . महात्मा के रूप में .

दक्षिण अफ्रीका से बापू के भारत लौटने पर राष्ट्रकवि गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनकी टोली को सर्वप्रथम अपने शान्ति-निकेतन मे स्थान दिया । उन्होने गाँधीजी को 'महात्मा' के नाम से सम्बोधित किया । यद्यपि कवीन्द्र रवीन्द्र गाँधीजी के कतिपय विचारो से असहमत थे, फिर भी वे उनके विराट् व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित थे । उन्होने देखा कि जनमानस गाँधीजी को अद्भुत महामानव या ईश्वरीय अवतार के रूप मे पूज रहा है। जनता यह समझने लगी थी कि भारत का उद्धार गाँधीजी द्वारा ही होगा । यद्यपि गाँधीजी विनम्रता के आदर्श थे तथापि उन्होने प्रवंचनापूर्ण विनम्रता को कभी भी अपने जीवन मे स्थान नही दिया । इसलिये उन्होने बार-बार यह दुहराया कि वे एक साधारण मानव हैं और उनमे किसी प्रकार की दैवी शक्ति नहीं है और न वे कोई पैगम्बर या सिद्ध पुरूष है ।

हम सबके लिये यह बात सचमुच सबसे अधिक महत्व की है । विश्व के अन्य महापुरूषो की तरह गाँधीजी महापुरूष के रूप मे नही जन्मे । वे अपनी सत्य और अहिंसा की साधना और संघर्ष तथा उनके प्रयोगों के कारण बड़े हुये ।

वास्तव मे देखा जाये तो गाँधी का सारा जीवन त्याग और तपस्या की कहानी है । भारत का वह कृशकाय, अर्धनग्न सत्य और अहिसा के परम अस्त्र लेकर 'जीवन-पर्यन्त', 'ब्रिटिश-साम्राज्यवाद' को जडो पर प्रहार करता रहा । उसने भौतिकवाद की ओर अग्रसर ससार को एक नवीन सन्देश दिया । अहिसा की विलक्षण शक्ति गाँधीजी के हाथ मे आकर एक बार फिर चमक उठी । सारा भारत उनके चरणो पर न्योछावर था । उन्हे 'राष्ट्रपिता' कहकर सम्बोधित किया गया ।

शताब्दियो तक पराधीनता के पाश मे जकडे हुये भारत को महात्मा गाँधी ने स्वाधीनता का उज्ज्वल प्रकाश प्रदान किया । वह महात्मा गाँधी ही थे, जिन्होने जनमानस मे ज्वार उत्पन्न करने का दायित्व अपने कन्धो पर लिया था ।

इससे भी बडी विशेषता गाँधीजी के जीवन की सादगी और सरलता है । स्वतन्त्रता के पश्चात् और पहले भी गाँधीजी को पदलिप्सा ने कभी नही सताया और राजसी ठाट-बाट ने कभी नही लुभाया । स्वतन्त्रता के प्रयास के साथ उन्होने रचनात्मक कार्यों की ओर ध्यान दिया । हरिजन उद्धार, स्त्री-शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, मद्यपान निषेध, खादी एव स्वदेशी वस्तुओ का प्रयोग, कुटीर उद्योगो का विकास आदि क्षेत्रो मे उन्होने विशेष कार्य किया ।

पता नहीं उनमे क्या जादू था कि परस्पर विरोधी विचारधारा के लोग भी उनके चरणो मे खिचे चले आते थे । एक ओर सेठ बिड़ला और जमनालाल बजाज उनके भक्त थे तो दूसरी ओर आचार्य कृपलानी और जय प्रकाश नारायण जैसे उनके अनुयायी । सरदार पटेल जैसे कर्मयोगी, पण्डित नेहरू जैसे क्रान्तिकारी, डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद जैसे साधु पुरूष, राजा जी जैसे कूटनीतिज्ञ, मौलाना आजाद जैसे विद्वान् और विनोबा जैसे धार्मिक धुरन्धर तथा मोतीलाल नेहरू जैसे नास्तिक सभी तो बिना तर्क-वितर्क के उनकी आज्ञा के सम्मुख सिर झुका देते थे । पण्डित मोतीलाल नेहरू ने एक बार उनसे कहा था - "मुझे आपके

आध्यात्मिक सिद्धान्त मे कोई विश्वास नही है । न ही मुझे इस जन्म मे भगवान पर विश्वास हो सकता है । मै पक्का नास्तिक हूँ । फिर भी कठिनाई यह है कि आप हमारे ही शस्त्रो से हमे पराजित कर देते है ।"[1] आखिर क्यो ? इसलिये कि उन्होने अपने सम्पूर्ण जीवन को अपने आदर्श के अनुसार ढाला था । मरते दम तक उन्होंने राजनीति को पवित्रता के वस्त्र पहनाने का प्रयत्न किया । यही कारण है कि उनके देहावसान पर सोवियत रूस को छोडकर ससार के सभी देशो ने अपने ध्वज झुकाकर उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की ।

---

1 आत्म-कथा -- पृष्ठ स0 -- 10

द्वितीय-अध्याय

महात्मा गाँधी के दार्शनिक विचार तथा उस पर वेदान्त का प्रभाव

महात्मा–गॉंधी के दार्शनिक–विचार

"मैने किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नही किया है । मैने सिर्फ अपनी तरह से शाश्वत सत्यो का अपने दैनिक जीवन और उसकी समस्याओ मे प्रयोग किया है । मेरा सम्पूर्ण जीवन–दर्शन, यदि आप इसको 'दर्शन' जैसी बडी सज्ञा देना चाहे, मेरे वचनो मे है । आपको इसे 'गॉंधीवाद' नही कहना चाहिए, क्योंकि 'वाद' की तरह कोई चीज यहॉं नही है और इसके लिए व्यापक साहित्य या प्रचार की जरूरत नही है ।" [1]

गॉंधीजी किसी नवीन विचार के प्रतिपादक नही थे और न उनके विचारो को हम शास्त्रीय अर्थ में किसी नवीन दर्शन–तन्त्र की सज्ञा दे सकते है । जिस शास्त्रीय अर्थ मे हम दर्शन को समझते है, उनमे युक्तियों के आधार पर नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते है । यद्यपि निष्कर्ष हमेशा नवीन नही होते तथापि निष्कर्षों को स्थापित करने के लिये नवीन तर्क उपस्थित किये जाते है और उनके प्रति आरोपो का खण्डन–मण्डन किया जाता है गॉंधी जी को इस काम के लिये न तो विशेष प्रशिक्षण ही मिला था और न उन्हे स्वयं ही उसमे कोई रुचि थी । जिसे हम शाश्वत सत्य कहते है, गॉंधीजी ने उसका पाठ विश्व के महान् सन्तो और मनीषियो से सीखा था । उन्हे जब उसमे कभी कोई शका या विरोध दिखायी पड़ता था तभी वे उसके समर्थन मे युक्तियॉं ढूँढते थे । गॉंधीजी पारम्परिक शिक्षाओ और उपदेशो को चुनकर उन्ही मे कुछ अपनी ओर से भी मिलाया, जो उन्होंने ठोस और व्यवहारिक समझा । इस प्रकार हम देखते है कि यद्यपि उनके विचारो के मूल मे प्राय पुरानी ही शिक्षाएं थी तथापि उनसे एक नवीन जीवन–दृष्टि का आविर्भाव हो गया ।

गॉंधीजी के दार्शनिक विचारों को हम निम्न शीर्षको के अन्तर्गत रखकर समझ सकते है .––

1. **ईश्वर :**

ईश्वर–प्रत्यय गॉंधी–विचार का केन्द्र–बिन्दु रहा है । शेष तत्व इसी केन्द्र के

---

1 हरिजन – 28 मार्च, 1936

चतुर्दिक विद्यमान् थे । इससे एक नयी दृष्टि उत्पन्न हुई ।

यद्यपि गाँधीजी का जिज्ञासु मन विभिन्न स्रोतो से प्राप्त ईश्वर-सम्बन्धी विचारो को अपने मे आत्मसात् करने का प्रयास करता था, किन्तु ईश्वर के प्रति उनकी अपनी आस्था उनके अपने वैष्णव परिवार से विशेष रूप से प्राप्त हुई और दृढ भी हुई । आज बहुसंख्यक हिन्दू वैष्णव सम्प्रदाय के है । ईश्वर के प्रति उनकी दृढ आस्था है । इसके साथ-साथ उन्हे वेद, उपनिषद्, गीता और वेदान्त-सूत्र से भी अवश्य प्रेरणा मिलती है । किन्तु वेदान्त के महान् आचार्य शकर द्वारा इन श्रुतियो की अद्वैतवादी व्याख्या, जिसके अनुसार निर्गुण ब्रह्म की कल्पना की गयी है, वैष्णवो को स्वीकार्य नही है । रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ इन चारो वैष्णव-आचार्यो ने शाकर मत के अनुसार ईश्वर की कल्पना का खण्डन किया और उसके विपरीत ईश्वर को साकार एव सगुण मानकर उनमे ऐश्वर्य के गुण आरोपित किये । शकर के अनुसार ससार मिथ्या है और जीव अज्ञानवश इसको वास्तविक मानता है । इसलिये ईश्वर का जगत्-कर्तृत्व भी जादूगर के तमाशे जैसा ही है । किन्तु, वैष्णव आचार्यो ने जगत् की यथार्थता को स्वीकार किया और इसलिये ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना । जहाँ शकर ने ब्रह्मज्ञान को चरम लक्ष्य और निर्विशेष सत्ता के ज्ञान को ही मोक्ष का मार्ग माना था, वहाँ इसके विपरीत सभी वैष्णव-आचार्यो ने भगवद्-भक्ति और ईश-शरणागति से प्राप्त भगवान की अनुकम्पा ही एकमात्र मोक्ष का साधन माना । इसलिये जहाँ शकर का अमूर्त दार्शनिक चिन्तन केवल दक्षिण भारत मे बहुत कुछ उनके परम्परागत अनुयायियो के बीच या उत्तर मे भी केवल कुछ विशिष्ट बुद्धिजीवियो के पास सीमित रहा, वैष्णव-मत या ईश्वरवाद सम्पूर्ण देश में फैला । उसे समय-समय पर एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढी के सतो, भक्तो एव कवियो से प्रेरणा मिलती रही । वैष्णव-मत मे ईश्वर की कल्पना बहुत कुछ ईसाई और इस्लाम धर्म के अनुरूप ही थी । इसीलिये जब भारत का इन धर्मो से सम्पर्क हुआ तो उससे भारतीय आस्तित्ववाद प्रभावित होकर और भी अधिक सुदृढ हुआ। इसलिए ईसाई तथा अन्य धर्मो के ईश्वरवाद के आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार करने मे हिन्दू-धर्म को अनुकूलता ही सिद्ध हुई ।

बचपन मे ही गाँधीजी को रामनाम के जप की शिक्षा मिली थी । अनेक वैष्णव राम को भगवान् का अवतार मानते है । गाँधीजी ने रामनाम का जप उस समय भी नही छोडा जब उन्हे यह विचार आया कि राम कोई ऐतिहासिक पुरूष या दशरथ के पुत्र नही है । उन्होने लिखा "मेरे राम ऐतिहासिक राम नही है -- वे तो नित्य, अनादि एव अद्वितीय है । मै केवल उन्ही की पूजा और भक्ति करता हूँ । जीवन के अन्तिम कुछ वर्षो मे गाँधीजी अपनी दैनिक प्रार्थनाओ मे "रघुपति राघव राजा राम -- ईश्वर अल्ला तेरे नाम" का प्रिय भजन गाते थे और जब उन्हे प्रार्थना-सभा मे गोली लगी तब भी उनके मुँह से अन्तिम शब्द 'हे राम' ही निकले थे --- ।"[1]

आश्रमवासियो के साथ मिलकर वे सुबह और शाम जो भजन गाते थे वे भी तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई और नरसिह मेहता - जैसे वैष्णव सन्तो के ही बनाये हुए थे । नरसिह मेहता द्वारा रचित 'वैष्णव जण तो तेणे कहिये' उनका सबसे प्रिय भजन था । इसी के साथ रवीन्द्रनाथ एव अन्य ईसाई तथा मुसलमान सन्तो के कुछ ईश्वर-भक्ति सम्बन्धी भजन भी उन्हे अत्यन्त प्रिय थे । गाँधीजी की इस अनन्य ईश्वर-भक्ति ने ही सभी धर्मों के लाखो-लाख लोगो के हृदय को प्रभावित किया था ।

वे यदि एक ओर भाग्यवाद के प्रबल विरोधी थे और मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता मानते थे, तो दूसरी ओर मानव-मुक्ति एव उसकी पूर्णता के लिये वे केवल ईश्वर की अनुकम्पा और शरणागति को ही अनिवार्य मानते थे । उन्होने अपनी आत्मकथा मे भी लिखा है, "पूर्णता या मोक्ष केवल ईश्वर की कृपा से ही सम्भव है । उनकी कृपा के समक्ष अपने को सम्पूर्ण रूप से समर्पित किये बिना सयम और नियम भी सम्भव नही है ।"[2] यह स्पष्ट रूप से वैष्णव धर्म है । शकर और उनके अद्वैतवादी अनुयायी तो मोक्ष के लिये ईश्वर की अनुकम्पा के बदले ज्ञान को ही साधन मानते है ।

---

1 हरिजन - 8 अप्रैल, 1946

2 आत्मकथा

जब हम उपर्युक्त बातो पर ध्यान देते है तो हमे गॉंधीजी को अद्वैतवादी की जगह पर सामान्य ईश्वरवादी मानना ही पडता है । इसका अर्थ हुआ कि वे शकराचार्य के अनुयायी को भॉंति निर्गुण निराकार ब्रह्म को स्वीकार नही करते थे । किन्तु, कभी-कभी उनके छिटपुट कथनो को लेकर, जो उनके स्थापित विचारो से बिल्कुल विपरीत पडते है, उन्हे समझने मे विसगति पैदा होती है । ऐसा लगता है कि वे कभी--कभी भारतीय दर्शन के ऐसे प्रत्ययो और शब्दावलियो का भी व्यवहार करते है, जो सामान्य प्रयोग मे अपने रूढ पारिभाषिक अर्थ मे व्यहृत नही हुए है ।

अपने एक मित्र के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए गॉंधीजी ने लिखा है - "यद्यपि मै अद्वैतवादी हूँ, फिर भी द्वैतवाद का समर्थन कर सकता हूँ । ससार सदा परिवर्तनशील है, इसलिये इसका स्थायी अस्तित्व नही है और यह मिथ्या है । किन्तु, सदैव परिवर्तनशील होते हुए भी इसका अस्तित्व है और इस दृष्टि से यह यथार्थ भी है, इसलिये इसे एक साथ यथार्थ और अयथार्थ मानकर हमे अपने को अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहलाने मे कोई आपत्ति नही है । किन्तु, मेरा स्याद्वाद दार्शनिको का नही बल्कि मेरा अपना है ।"[1]

भारतीय दर्शन के किसी जानकार व्यक्ति को उपर्युक्त कथन से यही लगेगा कि गॉंधीजी दार्शनिक शब्दो के पारिभाषिक अर्थ की पूरी जानकारी के बिना ही अद्वैतवादी--द्वैतवाद और उसी प्रकार अनेकान्तवाद-स्याद्वाद आदि शब्दावलियो का प्रयोग करते है । किन्तु वे अपनी इस कमी से अच्छी तरह परिचित है और इसलिये वे अत्यन्त स्पष्टता के साथ स्वीकार भी करते है कि इन शब्दावलियो का प्रयोग वे किसी रूढ दार्शनिक अर्थ मे नही, बल्कि अपने विशेष अर्थ मे करते है । यहॉं इतना ही कहना काफी होगा कि उनके ही कथनो से यह स्पष्ट होता है कि वे शकराचार्य की तरह अद्वैतवादी नही थे । उन्हे न तो तत्वमीमासा का द्वैतवाद और न स्याद्वाद का तर्कशास्त्र ही स्वीकार था । विश्व की एकता और विविधता

---

1 यग-इण्डिया - 21 जनवरी, 1926

मे समन्वय करने का प्रयास निम्बार्क द्वारा द्वैत–अद्वैत के समन्वय मे मिलता है । वैष्णव–मत के चार सम्प्रदायो मे निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत मत के प्रतिपादक थे । सभी वैष्णव सम्प्रदाय सृष्टि के वैविध्य एव परिवर्तन को अस्वीकार करने वाले शकराचार्य के अद्वैत का यद्यपि खण्डन करते है, फिर भी वे एक प्रकार के भेदाभेद का समर्थन करते है । गाँधीजी भी शायद अद्वैत का इसी अर्थ मे प्रयोग करते है ।

कभी-कभी शकर की तरह गाँधीजी भी ससार को मिथ्या बताते हैं । किन्तु यदि हम उनके वचनो का गूढार्थ समझे तो हमें लगेगा कि यहाँ 'मिथ्यात्व' को 'अनित्य एव क्षण--भगुर' के अर्थ मे समझा गया है । पीडित और दुखी मानवता के प्रति अनन्य कर्तव्यनिष्ठा के कारण भी वे ससार को बिल्कुल मिथ्या घोषित नही कर सकते थे । उन्होने लिखा है – "इस परिवर्तनशील असार ससार मे आनन्द या सच्चा सुख सचमुच एक सपना है। किन्तु, हम अपने भाई–बन्धुओ के दुख को मिथ्या कहकर अपने नैतिक दायित्व से मुक्त नही हो सकते । स्वप्न की स्थिति में स्वप्न भी सत्य होता है और दुखी व्यक्ति का दुख भी एक कठोर सत्य होता है ।"[1]

शाकर–मत को मानने वाले ईश्वरवादी भी यद्यपि ससार को सत्य मानते है, फिर भी ससार को ईश्वर की लीला कहकर इसको थोडा गौण स्थान देते है । गाँधी, आस्तिकता की इस भावना को व्यक्त करते हुए कहते है कि "वशी के इस धुन पर यदि हम नाचे तो फिर सब ठीक हो जायगा ।"[2] इस सन्दर्भ मे वे ससार को माया कहते है, किन्तु वैष्णवो की भाँति गाँधीजी 'लीला' शब्द का भी प्रयोग करते है । वे कहते है, इसलिये इसको 'हिन्दू–धर्म मे लीला या माया कहा जाता है ।' लीला के कारण ही वे ईश्वर को 'सबसे बड़ा निरकुश' बताते हैं, जो अपनी लीला के लिये हमारे मुँह का ग्रास भी छीन लेता है और हमे न जाने कितने प्रकार के दुःख प्रदान करता है ।

---

1. हरिजन – 21 जुलाई, 1946 ई0
2. यंग--इण्डिया – 5 मार्च, 1925 ई0

शकर के मतानुयायी की तरह वे कभी-कभी सगुण और साकार ईश्वर का खण्डन करते हुए प्रतीत होते है, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि वे ईश्वर के अवतार की सम्भावना को स्वीकार कर उसके सगुण और साकार तत्व को ग्रहण करते है । अपनी पुस्तक मे वे लिखते है "ईश्वर सगुण और साकार नही है । मनुष्य रूप मे पृथ्वी पर ईश्वर के समय-समय पर अवतार का अर्थ केवल यही हो सकता है कि ऐसा अवतारी पुरूष ईश्वर के समीप रहता है ।"[1] जहाँ तक ईश्वर के व्यक्तित्व का प्रश्न है, पाश्चात्य विचारको मे भी इसके सही अर्थ पर मतैक्य नही है । यदि 'व्यक्तित्व' से 'आत्म चेतना' और 'सकल्प' दोनो का बोध होता है तो इस अर्थ मे गाँधी ईश्वर को 'व्यक्तित्वपूर्ण' मानते है, क्योकि ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जगत्-स्रष्टा और न्यायपालक मानते है । इसलिये सब मिला-जुलाकर गाँधी को शकर के अनुयायी की तरह अद्वैतवादी होने के बजाय एक ईश्वरवादी वैष्णव कहना अधिक युक्ति सगत होगा ।

यह ठीक है कि गत शताब्दी के अन्त से ही पाश्चात्य जगत् शकराचार्य के अद्वैत की ओर अधिक आकृष्ट हुआ और यही विचारधारा है, जिसका आधुनिक सन्दर्भ मे प्रचार और प्रसार यूरोप और अमेरिका के देशो मे भारत के वेदान्त-शिरोमणि स्वामी विवेकानन्द ने किया था । इसी कारण इसको भारत के अग्रेजी दाँ लोगो के बीच कुछ विशेष प्रतिष्ठा भी मिली । यह बहुत सम्भव है कि गाँधीजी पर देश मे फैले हुए अद्वैत-वेदान्त के लोक-प्रचलित विचारो का भी प्रभाव हो । इसलिये कभी-कभी वे अद्वैत की भाषा बोलते हैं । जो भी हो, इतना तो है ही कि अद्वैत का सस्कार किसी न किसी रूप मे अनेक मानस-पटल पर अकित था । उनकी आस्तिक अभिवृत्ति एव उसके ईश्वरवादी दृष्टिकोण ने उनके विचारो को और उनके व्यवहारिक जीवन को प्रभावित किया था ।

उनके अनुसार ईश्वर मानव और जगत् मे सर्व-व्यापक सत्ता है । यह विश्व भी उसकी की सृष्टि और अभिव्यक्ति है । किन्तु, सामान्य सर्वेश्वरवादी से भिन्न वे

---

1 हिन्दू - धर्म - पृष्ठ 131

ईश्वर को विश्वातीत भी मानते थे । इस प्रकार ईश्वर विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनो ही है । जिस प्रकार किसी कवि की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति उसकी कविताओ मे ही सम्भव नही है, उसी प्रकार ईश्वर की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति केवल इसी सृष्टि से नही होती । पाश्चात्य अन्तर्व्यापी (ईश्वरवाद) की तरह गाँधीजी ईश्वर सम्बन्धी धारणा अत्यन्त व्यापक है । ह्वाइटहेड की तरह वे कभी–कभी एक साथ ईश्वर प्राक्तन और अनुवर्ती पक्षो का वर्णन करते हुए दिखायी देते है । इससे विभिन्न धार्मिक विचारधाराओ का समन्वय भी होता है । एक ही सत्य के अनेक रूप होते है और उसके अनन्त रूप की कल्पना से परे है ।

"मै ईश्वर को सर्जनशील मानता भी हूँ और नहीं भी मानता । जैन–सृष्टि से विचार करने पर मै ईश्वर की सर्जनशीलता का प्रश्न ही नही उठने दूँगा, किन्तु विशिष्टताद्वैत रामानुज के दृष्टिकोण से उसे मै स्वीकार करता हूँ । असल बात तो यह है कि हम अज्ञात और अज्ञेय ब्रह्म को जानना चाहते है और इसीलिये हमारी वाणी असमर्थ हो जाती है और आत्म–विरोधपूर्ण जैसी लगती है । इसलिये वेदो मे ब्रह्म को 'नेति--नेति' कहा गया है । वह एक है, फिर भी अनेक है, वह अणु से भी सूक्ष्म है, किन्तु आकाश से भी महान् है ।"[1]

स्याद्वाद अनेकातवाद पर आधारित है । वस्तु के अनत धर्म होते है और जब भी हम वस्तु का वर्णन करते है तो उसके किसी एक पक्ष का ही वर्णन करते है तो उसके किसी एक पक्ष का ही वर्णन हो पाता है । इसलिये हमारे सभी निर्णय सापेक्ष रूप से सत्य होते है । प्रत्येक निर्णय केवल सत्याश को ही प्रकट करता है । गाँधीजी ने इस विचार को इसलिये स्वीकार किया क्योकि इससे उन्होने जीवन के सभी क्षेत्रो मे व्याप्त प्रकट अन्तर्विरोधों का समन्वय किया और साथ–साथ इससे दूसरो के विचारो के प्रति आदर तथा अपने विचारों के प्रति नम्रता का भाव भी मिलता है । यह तो पता नही कि उन्होंने जैन–दर्शन के अनेकान्तवाद–स्याद्वाद का शास्त्रीय अध्ययन किया था या नही, किन्तु उन्हें इस सम्बन्ध मे अत्यन्त प्रचलित कहानी मालूम है, जिससे यह विचार परिपुष्ट

---

1. यंग–इण्डिया – 21 जनवरी, 1926 ई0

होता है। गाँधीजी अपने एक लेख मे कहते है –

"यह मेरा अनुभव रहा है कि हम अपनी दृष्टि से हमेशा सही रहे है, किन्तु अपने ईमानदार आलोचको की नजर मे गलत रहे है। इस प्रकार दोनो ही दृष्टियाँ सही है। इसलिये मै अपने विरोधियो और आलोचको की नीयत मे शक नही करता। जिन सात अधो ने अपने-अपने अनुभव के आधार पर एक ही हाथी के सात प्रकार से वर्णन किये थे, वे सभी अपनी दृष्टि से सही है। इस प्रकार मुझे सत्य के अनन्त रूपात्मकता का यह सिद्धान्त बडा ही प्रिय है। इसी सिद्धान्त के कारण मै मुसलमान या ईसाई को उन्ही की दृष्टि से समझने का प्रयास करता हूँ। पहले तो मै सम्पूर्ण विश्व को अपने हृदय मे रख सकता हूँ। मेरा अनेकातवाद सचमुच सत्य और अहिसा के मेरे दो सिद्धान्तो पर ही आधारित है।"[1]

इस सर्वग्राहिणी दृष्टि का दर्शन गाँधी को भगवान ईसा के वचनो मे भी मिला – "मेरे पिता के घर मे अनेक द्वार है," "मै सहार नही, समन्वय करने आया हूँ।"[2] इस प्रकार की उदार और सर्वग्राहिणी दृष्टि से उन्होने विभिन्न अवसरो पर विभिन्न दृष्टियों से ईश्वर का वर्णन किया। ईश्वर के सम्बन्ध मे उनकी आधारभूत धारणा यह थी कि वह सर्वव्यापक एव सर्वाधार, साकार एव निराकार है। भगवान् के इस विराट् स्वरूप की कल्पना ने उन्हे आनन्द से अभिभूत किया था, जो कभी-कभी उनके विचार और वाणी से भी फूट पडता था। इसका एक दुर्लभ उदाहरण निम्न है –

"ईश्वर वह अवर्णनीय सत्ता है, जिसका हम सभी अनुभव तो करते है किन्तु उसको जान नही सकते। मेरे लिये तो ईश्वर सत्य और प्रेम, नीति और धर्म है, निर्भयता है। ईश्वर प्रकाश और सम्पूर्ण चर-अचर प्राणियो का आधार है और फिर भी वह सबसे परे है। ईश्वर अन्तरात्मा भी है। वह निरीश्वरवादियो के लिये उसका निरीश्वरवाद है --। वह

---

1 यग-इण्डिया

2 जान 1412, मैथ्यु 516

वाणी और तर्क से परे है । वह उसके लिये सगुण और साकार है, जो उनका साक्षात् सस्पर्श चाहते है, किन्तु वह निर्विशेष एव शुद्धसार तत्व भी है । आस्थावान् व्यक्तियो के लिये उनकी सत्ता है । वह अनत दुख रूप भी है । वह धीर भी है किन्तु चचल और गतिमान भी है । ससार मे वह सर्वाधिक उदार एव जनतान्त्रिक विचार का भी है क्योंकि शुभ-अशुभ क बीच हमे वह अपना पथ चुन लेने मे स्वतन्त्र रखता है । किन्तु, वह सबसे बडा निरकुश और स्वेच्छाचारी भी है क्योंकि कभी वह हमारे सम्पूर्ण पुरूषार्थ पर पानी फेर देता है और स्वतन्त्रेच्छा से आनन्द के लिये लीला करता हे और हम पाहि-पाहि करते है । हिन्दू धर्म मे इसीलिये इस सृष्टि को ईश्वर की माया या लीला कहा गया है ।"[1]

गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत ईश्वर का वर्णन इस युग के महान् वैज्ञानिक और गाणितिक दार्शनिक अल्फ्रड नार्थ ह्वाइट हेड द्वारा लिखित पुस्तक मे प्रकट विचारो से साम्य रखता है । उस पुस्तक मे कहा गया है, "यह कहना उतना ही सही होगा कि ईश्वर नित्य और जगत् अनित्य, जितना यह कहना कि जगत् नित्य है और ईश्वर अनित्य । यदि यह कहना सत्य है कि ईश्वर एक है और जगत् अनेक, तो उसी प्रकार यह भी सही है कि ससार एक है और ईश्वर अनेक ।"[2]

दोनो विचारो मे साम्य यही है कि दोनो ही ईश्वर-तत्व के विरोधी पहलुओ और विभिन्न दृष्टियो तथा धार्मिक परम्पराओ के समन्वय करने की चेष्टा करते है । ऊपर-ऊपर से देखने वालो के लिये एक ही तत्व के विषय मे ये दोनो विपरीत वर्णन सचमुच परस्पर विरोधी दीखते है । किन्तु, यदि हम विभिन्न प्रकार की दृष्टियो और उनके विभिन्न पहलुओं को स्वीकार करे तो फिर इनका समन्वय भी सम्भव हो सकता हे । ह्वाइट हेड को भी गलत समझा गया है और वे भी कठोर आलोचनाओ के शिकार

---

1 यग-इण्डिया (पृष्ठ 80-81) 5 मार्च, 1925

2 प्रासेस एड रियालिटी

हुए है । शायद गाँधीजी की स्थिति और भी कठिन हो । इसका मुख्य कारण है कि ये लोग प्रचलित एव परम्परागत विचार-पद्धति के बिल्कुल विपरीत बाते करते है । किन्तु, जब विज्ञान द्वारा दिक् और काल के ऊपर विजय के बाद सम्पूर्ण विश्व ही सिमटकर छोटा होता जा रहा है और पृथक-पृथक क्षेत्रो मे बसने वाली जातियाँ और उनके विचार ही जब एक सूत्र मे बँध रहे है तो फिर आज विश्व के महान् से महान् व्यक्तियो के अन्तराल मे भी समन्वय की आकांक्षा जाग उठती है । इसलिए इसमे जरा भी आश्चर्य नही है कि ह्वाइड हेड और गाँधी के चितन मे साम्य हो ।

ईश्वर और अशुभ :

ऊपर दिये गये उदाहरणो से पता चलता है कि गाँधीजी ह्वाइट हेड से भी आगे थे, क्योकि वे ईश्वर-प्रत्यय के अन्दर केवल सौम्य और शिवतत्व को नही, बल्कि उसकी भयकरता, निरकुशता एव निरीश्वरवादिता को भी समेट लेते है । इन सब बातो के विचार मे 'ईश्वर' का क्या अर्थ है ? विश्व भर मे मुख्य रूप से दो प्रकार की कल्पनाए की गयी है । ईश्वर या तो अत्यन्त सौम्य शक्ति है, जो निरन्तर विपरीत शक्तियो से सघर्ष कर रहा है और इसलिये वह सब दुखो का कारण है, या ईश्वर एक मात्र सर्वग्राहिणी सत्ता है । प्रथम दृष्टि के अनुसार अशुभ तत्व पर अन्त मे विजय प्राप्त करने की शक्ति ईश्वर मे आरोपित की जाती है, फिर भी विरोधी अशुभ--तत्व ईश्वर के आमने-सामने रहकर, आशिक रूप से ही सही, उसकी सत्ता को सीमित करता है । धार्मिक भावना पूजा के रूप मे पर ब्रह्म परमेश्वर की कल्पना करती है, जो हमारे लिये विश्वसनीय सहारा सिद्ध हो सके । इस दृष्टि से ईश्वर सम्बन्धी दूसरी कल्पना ही धार्मिक भावना को पूर्णरूप से सन्तुष्ट कर सकती है । फिर, विज्ञान की एकतत्ववादी प्रवृत्तियाँ, जो विश्व की विभिन्न प्रकार की घटनाओ को यथासम्भव किसी एक व्यापक सिद्धान्त के अन्दर रखने का निरन्तर प्रयास करती है, भी सर्वग्राहिणी सत्ता के रूप मे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वाली धार्मिक विश्वास को परिपुष्ट करती है । किन्तु, ज्यो ही ईश्वर को हम सर्वग्राहक मान लेते है, अशुभ भी अनिवार्य रूप से इसी का अश हो जाता

है । विकसित ईसाई मत और एकत्ववादी भारतीय चितन धारा, जिसके साथ गाँधीजी की गहरी सहानुभूति है, प्राय एक ही प्रकार की समस्या से जूझते है । इन सबके लिये ईश्वर की सत्ता और असीमता के परित्याग का प्रश्न नही है किन्तु अशुभ की समस्या तो मुँह बाये खडी है । ईश्वर के इस सर्वग्राहक स्वरूप की व्याख्या करते हुए सृष्टिगत दुख, भय और निरकुशता आदि पहलुओ को भी सम्मिलित कर गाँधी अपनी यथार्थवादिता का ही परिचय देते है ।

किन्तु, क्या इससे हम यह समझे कि उनके अनुसार ईश्वर मे शुभ और अशुभ दोनो तत्वो का मेल है ? या वे यह मानते है कि अशुभ केवल आभास मात्र है ? या यदि वह सत्य ही है तो क्या अन्त मे उसका अन्त भी हो सकता है ? अपनी पारिवारिक परम्परा और अपनी चिन्त प्रकृति के कारण गाँधी का हृदय ईश्वर के षडैश्वर्य एव उनके 'सत्य, शिव और सुन्दरम्' रूप से अत्यन्त अभिभूत था । महान् धर्मो के अध्ययन से भी इसी बात को समर्थन मिलता है । अपने लम्बे सघर्षमय जीवन मे उन्हे ऐसे ही ईश्वर मे जीवित आस्था थी, उसी की अनुकम्पा के वे आकाक्षी रहे और उसी के आगे सर्वस्व समर्पण किया। उसी नित्य, शाश्वत और सनातन से अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने के लिये अन्दर से प्रार्थना की । उसी ईश्वर को उन्होने प्रकृति के विराट् सामञ्जस्य मे देखा तथा मानव के प्रति प्रेम भाव-विभोर हो उठे थे । किन्तु उनका बुद्धिवादी मानस और उनकी अपनी नैतिक वृत्ति ने उन्हे सृष्टि की अपूर्णता एव अशुभ की दुखद वास्तविकता को स्वीकार करने को बाध्य किया था । यह ठीक है कि अशुभ आस्तिकता के लिये सबसे बडी चुनोती है किन्तु ईश्वर मे उनकी आस्था इतनी अटल थी कि उसका परित्याग करना जीवन के लिये कतई लाभदायक नही था । इसलिये सर्वशक्तिमान् और दयावान ईश्वर मे विश्वास के साथ अशुभ की कल्पना का सामञ्जस्य कर गाँधीजी ने परम्परा का पालन किया । ईसाई ईश्वरवादियों की तरह गाँधीजी अशुभ, पाप एव दुर्गुण को स्वतन्त्रेच्छा के परिणाम ही मानते है । हाँ, इसकी व्याख्या करने में वे कभी--कभी भारतीय कर्मवाद का सहारा लेते है, जिसके अनुसार केवल सद्गुण और दुर्गुण ही उसके कर्म पर निर्भर नही करते

है, बल्कि उसका शरीर और जन्मादि भी उसके कर्म के ही फल है । इसीलिये कभी-कभी प्राकृतिक प्रकोप आदि को भी वे मानवो के पाप का ही फल मानते है ।

हाँ वे यह अवश्य मानते हैं कि यदि भगवान की इच्छा हो तो वे अशुभ के निवारण ही नही, उसको समाप्त भी कर सकते है । किन्तु एक आदर्श जनतान्त्रिक व्यक्ति की तरह ईश्वर मनुष्यो को अशुभ निवारण मे अपने स्वतन्त्र पुरूषार्थ को प्रकट करने का पूर्ण अवसर देते है ताकि नैतिक दृष्टि से मनुष्य खूब सशक्त बन सके । एक सच्चे और कठोर शिक्षक की तरह सम्पूर्ण कोमलताओ का त्यागकर ईश्वर अपने कर्म का फल या दण्ड भोगने को इसलिये बाध्य करते है कि हम स्वय अपना परिष्कार कर सके । किन्तु फिर भी गाँधीजी यह मानते है कि अशुभ का सम्पूर्ण रहस्य हम तभी जान सकते है जब हम ईश्वर के सभी कर्मों के पीछे उनकी अभिप्रेरणा जान सके । किन्तु, यह तो सम्भव नही है । इसलिये वे स्वीकार करते हैं :-

"बुद्धि के द्वारा मै अशुभ की व्याख्या नही कर सकता हूँ । ऐसा करना वस्तुत ईश्वर बन जाना होगा । इसलिये मैं विनम्रतापूर्वक अशुभ के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता हूँ । मै ईश्वर को भी धीरता एव दुख की प्रतिमूर्ति इसलिये कहता हूँ कि वे अशुभ का अस्तित्व इस ससार मे बनाये रखते हैं । मै अवश्य जानता हूँ कि उनमें कोई अशुभ तत्व नही है ।"[1]

वे फिर इसी बात का खुलासा करते है -- "ससार मे ईश्वर सबसे बडा जनतान्त्रिक व्यक्ति है, क्योंकि वह हमे शुभ या अशुभ कर्म करने के लिये पूर्णत स्वतन्त्र रखता है ।"[2]

सहृदय व्यक्ति अपने विश्वासी मित्र के प्रति कोई बुरी अभिप्रेरणा आरोपित नही

---

1 यग--इण्डिया - 1 अक्टूबर, 1928

2 यग--इण्डिया - 5-3-1925

कर सकता है और उसके द्वारा किसी अज्ञात नीयत से प्रकट रूप से गलत काम को भी अत्यन्त उदार दृष्टि से समझने का प्रयास करता हुआ धीरे-धीरे यह विश्वास कर लेता है कि उसने किसी अज्ञात किन्तु अच्छी प्रेरणा से ही यह काम किया होगा । ईश्वर के प्रति आस्था रखने मे उन्होने जीवन मे इतना अधिक लाभ पाया कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में उनके सारे सशय मिट गये । गाँधीजी कभी यह विश्वास नही कर सकते थे कि ससार मे जो अशुभ है, वे ईश्वर की किसी दुष्ट प्रेरणा के प्रतिफल हैं क्योंकि उनके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सघर्षो मे ईश्वर के प्रति उनकी आस्था उनका सबसे बडा सबल और सहायक रही है ।

"ईश्वर सत्य है और सत्य ईश्वर है" :

इस प्रकार अशुभ की समस्या का समाधान करने के पश्चात् गाँधीजी के लिये ईश्वर को शुभ-अशुभ सभी तत्वो का आधार तथा एक और सर्वव्यापी सत्ता मानने मे कोई बाधा नही है । उनके लिये तो अनीश्वरवाद भी एक दैवी योजना ही है । अपने प्रारम्भिक जीवन में निरीश्वरवाद और सशयवाद से उनका जो थोडा सम्पर्क हुआ था, शायद उसी कारण गाँधीजी ने यह समझा कि विचारयुक्त सन्देहवाद का ईश्वर के प्रति दृढ आस्था के निर्माण पर स्वस्थ प्रभाव होता है । साथ-साथ बौद्धिक और जाग्रत निरीश्वरवाद सत्य के प्रति निर्ममतापूर्ण निष्ठा का ही एक आदर्श और सुन्दर रूप है । इस प्रकार बौद्धिक ईश्वरवादी और बौद्धिक निरीश्वरवादी दोनो के लिये सत्यनिष्ठा और सत्यान्वेषण समान धर्म है । इससे गाँधीजी को ईश्वर की कल्पना और उसके प्रति आस्था के वृत्त को विस्तार करने की दिशा मे एक नयी रोशनी मिलती है । वे इसी भाव को अपनी पुस्तक में निम्न रूप मे व्यक्त करते है --

"जो ईश्वर को प्रेम के रूप में मानते है, उनके साथ मै भी ईश्वर को प्रेम मानूंगा । किन्तु, मेरे अन्तस्तल मे यह बात बैठ गयी है कि ईश्वर चाहे जो कुछ भी हो 'ईश्वर' सत्य है । किन्तु दो वर्षों के बाद, एक कदम और भी आगे जाकर मैने कहा

कि "सत्य ही ईश्वर है ।" सत्य–प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन प्रेम ही है । किन्तु मैने यह भी पाया कि अग्रेजी भाषा मे प्रेम के अनेक अर्थ है । वासना के अर्थ मे पार्थिव प्रेम हमारे पतन का भी द्योतक हो सकता है । 'अहिसा के अर्थ मे 'प्रेम' को मानने वाले बहुत कम लोग है, किन्तु सत्य हमेशा एक ही अर्थ मे प्रयुक्त होता आया है । यहाँ तक कि निरीश्वरवादियो ने सत्य के लिये ईश्वर के अस्तित्व को भी अस्वीकार कर दिया था । और यही कारण था कि मैने "ईश्वर सत्य है की अपेक्षा "सत्य ही ईश्वर है' कहना अधिक उचित समझा ।"[1]

बराबर ही उद्धृत किया जाने वाला यह अनुच्छेद गाँधी के मानस की एक झाँकी प्रस्तुत करता है । उन्होने तर्कशास्त्र के नियमो, सत्य के विभिन्न अर्थों तथा सत्य एव सत्ता के भेद आदि की दर्शन सम्बन्धी शास्त्रीय जानकारी की विशेष परवाह नही की किन्तु अनुभव और सहज मनोवैज्ञानिक विकास के द्वारा ही वे "ईश्वर सत्य है, से 'सत्य ही ईश्वर है' वाक्य पर पहुँच गये । यह आकारिक तर्कशास्त्र के नियमो के अनुसार प्रकटत दोषपूर्ण सरल आवर्तन जैसा प्रतीत होता है । जिस प्रकार शिशु अपने कोमल पैरो से सहज भाव से ठुमक–ठुमककर चलता है, वैसा करना प्रौढ व्यक्ति के लिये प्राय बिल्कुल ही कठिन हो जाता है । कवि, पैगम्बर, सन्त और सामान्यजन भी कभी जिस सत्य का दर्शन कर लेते है, दर्शन और विज्ञान को उसकी प्रतिष्ठा करने मे दीर्घ और कठोर साधना करनी पडती है । फिर भी हमे, यह विवेचन करना ही होगा कि दर्शन के एक सामान्य विद्यार्थी के सामने गाँधीजी के इन कथनो मे कौन–कौन सी सगतियाँ उत्पन्न हो सकती है । सबसे अधिक सामान्य अर्थ मे, वस्तु और विचार के बीच सामाञ्जस्य को सत्य कहते है, इसलिये यथार्थ ज्ञान को सत्य कहा जाता है । यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार हम किसी सुन्दर स्त्री को देखकर उससे ही सुन्दरता का ज्ञान प्राप्त कर लेते है । जब तक हम सत्य और सत्ता का भेद भुला नहीं देते तब तक हमारे लिये यह कहना कठिन

---

1 यंग–इण्डिया – 21–12–1931

होगा कि सत्तावान् ईश्वर सत्य है । सत्य आखिर ज्ञान ही तो है, यह स्वंय कोई वस्तु नही बल्कि किसी वस्तु का मनुष्य के मानस-पटल पर एक चित्र है । किन्तु यह कठिनाई तो तब उत्पन्न होती है जब हम ज्ञान के विषय मे ज्ञानाद्वैत को स्वीकार कर ले । लेकिन यह विचार दार्शनिक को भी मान्य नही है । प्रो जे0एच0 म्योर हेड ने अपने निबन्ध मे यह स्वीकार किया है कि "अरस्तु के अनुसार इन्द्रिय ज्ञान और कल्पना के आधार पर प्राप्त सामान्य ज्ञान मे ज्ञान और ज्ञेय दोनो अलग-अलग तत्व रहते है । किन्तु, एक ऐसी भी स्थिति है, जिसमे दोनो का समन्वय हो जाता है और कभी-कभी उन दोनो क पर भी एक अपरोज्ञानुभूति की स्थिति उत्पन्न होती है जिसमे ज्ञाता-ज्ञेय एक मे लवलीन हा जाते है ।"[1] इस प्रकार सत्य-ज्ञान, सत्य और सत्ता सब समान हो जाते है । ऋषि और महात्मा आदि ज्ञान के सर्वोच्च रूप मे ही सत्य और सत्ता का अभेद मानते है । उदाहरण के रूप मे म्योर हेड महोदय बाइबिल का उदाहरण देते है "तुम सत्य को जान लोगे और सत्य तुम्हे मुक्ति प्रदान करेगा ।"[2] टालस्टाय महोदय भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द किगडम् आफ गाड इज विदिन यू' के प्रारम्भ मे ही इसका उल्लेख करते है । इन सबो ने ही गाँधीजी को इतना अधिक प्रभावित किया । इसके अतिरिक्त उपनिषद् आदि मे ब्रह्म को 'सत्यम् ज्ञान अनन्तम्' कहा गया है । इसका भी प्रभाव उनके मानस पर पडा ही होगा । न्यू प्लेटोनिक रहस्यवादी विचारको, सूफी सन्तो और टालस्टाय आदि की तरह उपनिषद्कारो ने ईश्वर को अन्तरात्मभूत सत्ता माना है, जो हमारे अन्तर्ज्ञान,, चेतना आदि मे प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त होता है । इस प्रकार ज्ञान ही ईश्वर है और ईश्वर का ज्ञान हमारी आत्मा मे स्थित ईश्वर से भिन्न है । भगवान ईशु भी कहते है, "मै ही मोक्ष-मार्ग हूँ सत्य हूँ और सम्पूर्ण जीवन हूँ ।"[3]

ससार के दूसरे आध्यात्मिक चितकों और लेखको की भाँति चूँकि गाँधीजी ईश्वर को ज्ञान, प्रेम, अन्तर्विवेक और तर्क बुद्धि मे अभिव्यक्त अन्तरात्मा मानते है, इसलिये

---

1. महात्मा गाँधी - डाक्टर राधा कृष्णन
2. सेट जान - 8-32
3. सेट जान 14-16

उन्होने ईश्वर को कभी सत्य, कभी प्रेम ओर कभी अन्तर्विवेक माना है । यहाँ तक कि निरीश्वरवादियों के अनुसार उनकी तर्कबुद्धि और उनकी आस्था को भी ईश्वर की सज्ञा दे डाली है ।

गाँधीजी के अनुसार 'ईश्वर सत्य है' के मर्म को समझ लेने के पश्चात् हमे इस वाक्य के आवर्तन 'सत्य ही ईश्वर है' के गूढार्थ को समझना होगा । यह ठीक है कि साधारणत किसी पूर्णव्यापी भावात्मक तार्किक वाक्य का सरल आवर्तन दोषपूर्ण होता है और इसीलिये 'सभी मनुष्य मरणशील है' आधार वाक्य से हम 'सभी मरणशील मनुष्य है' निष्कर्ष नही निकाल सकते है । किन्तु इस नियम के भी अपवाद है । जब किसी वाक्य के उद्देश्य एव विधेय वस्तुवाचकता मे समान होते है तो सरल आवर्तन सम्भव है । जैसे 'मनुष्य विवेकशील जीव है' का सरल आवर्तन 'सभी विवेकशील जीव मनुष्य है' बिल्कुल निर्दोष होगा । इसी प्रकार "ईश्वर सत्य है" से 'सत्य ईश्वर है' का सरल आवर्तन दोषपूर्ण नही होगा, क्योंकि 'सत्य' और 'ईश्वर' दोनो समान है ।

समान वाक्यो का उद्देश्य एव विधेय का परस्पर परिवर्तन यद्यपि तार्किक दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण नही है, फिर भी यह गाँधीजी के लिये एक गम्भीर मनोवैज्ञानिक परिवर्तन सिद्ध हुआ । इसलिये वे पूर्वोक्त अनुच्छेद के निष्कर्ष मे कहते है "मै सत्यान्वेषण की दिशा में लगभग 50 वर्षो की अनवरत और कठोर साधना के पश्चात् ही इस निष्कर्ष पर आया हूँ ।"[1]

इस परिवर्तन का महत्व इसलिये हो जाता है कि किसी वाक्य का उद्देश्य ही किसी कथन का आरम्भ बिन्दु है और उसी के विषय मे उसकी जिज्ञासा भी रहती है । वह जो कुछ भी कहता है उसी के विषय में कहता है । 'ईश्वर सत्य है' वाक्य से प्रकट होता है कि गाँधीजी का जीवन-शोधन ईश्वर से ही हुआ जिसके विषय मे उन्होने जानने

---

1 आत्मकथा पृष्ठ-225

की कोशिश की, जिसका उन्होने इतना वर्णन किया जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की ओर जिसके साथ एकरूप होकर आनद पाया । जैसा उन्होने बताया है कि ईश्वर की कल्पना उन्हे विश्व के धर्मो से प्राप्त हुई है । प्रारभ मे उन्हे ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे किसी प्रकार का सन्देह नही था और उसके विषय मे उन्हे अधिक से अधिक जिज्ञासा थी । किन्तु, दुनियाँ के अनेक नागरिको एव निरीश्वरवादियो ने, जिनमे अनेको के साथ उन्होने राजनीतिक क्षेत्र मे कधे से कधा मिलाकर काम किया, धीरे-धीरे यह स्पष्ट कर दिया था कि ईश्वर सम्बन्धी परम्परागत कल्पना मे गम्भीर कठिनाइयाँ है । किन्तु उन्होने यह पाया कि जिन्होने ईश्वर के अस्तित्व को सच्चाई के साथ अस्वीकार भी किया था, उन्होने भी सत्य को अस्वीकार नही किया, क्योंकि मनुष्य के सम्पूर्ण तर्क का आधार सत्य ही है । तर्क सबको छोड सकता है लेकिन सत्य को नही । सत्य हम सबको सबस अधिक आकर्षित करता है । मानवता की आशा ईश्वर सम्बन्धी धार्मिक अंध-विश्वास के बदले मानवता के भविष्य, बुद्धि एव तर्क पर निर्भर करती है, क्योकि अध-विश्वास के कारण ससार मे न जाने कितन अनिष्ट हुए है । इसलिये गाँधीजी ने ईश्वर से अधिक महत्व सत्य को दिया । इसका अर्थ केवल इतना ही हुआ कि ईश्वर सत्य है या यो कहे कि यह मानव और बाह्य जगत् मे अभिव्यक्त सृष्टि की सारभूत सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नही है ।

'सत्य ईश्वर है' वाक्य का एक और अर्थ है । 'सत्य' उपासना का विषय भी होना चाहिए जैसा कि यह गाँधीजी के लिये सदैव रहा । किन्तु फिर भी, उन्होने सत्य की और भी गहरी खोज की और प्रयोग करके इसको ध्रुव निश्चित किया । व्यावहारिक जीवन मे इससे उनकी आस्था और व्यापक हुई और वे उन सभी व्यक्तियो के प्रति सहानुभूति एव आत्मीयता दिखा सके, जो अपने-अपने अनुसार सत्य को अपने जीवन का चरमलक्ष्य मानते है । अपनी इस सहानुभूति एव प्रेम के माध्यम से उन्होने लाखो-लाख लोगो का, यहाँ तक कि उन नास्तिको का भी हृदय जीत लिया जो उनके सामाजिक एव राजनैतिक नेतृत्व से उनके साथ कधे से कंधा मिलाकर चले रहे और जब आवश्यकता हुई तो जेल भी गये, गोलियाँ भी खायी और शहीद भी हुए ।

किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि गाँधीजी की इस सत्यनिष्ठा ने उनकी प्रारम्भिक ईश्वर-निष्ठा को किसी तरह घटाया नही, बल्कि सब तरह से बढाया ही । ईश्वर के सम्बन्ध मे सकीर्ण कल्पनाओ ने, सच्चे निरीश्वरवाद से भी अधिक, इस ससार मे घृणा एव विद्वेष फैलाया है । ईसाई, मुसलमान एव अन्य सम्प्रदायो के बीच ईश्वर की एक कल्पना मे आस्था रखने वाला व्यक्ति दूसरे की केवल आलोचना ही नही करता है, बल्कि उससे इतनी घृणा करता है कि उसे नास्तिक, काफिर, हदिन आदि कह डालता है । शायद वह यह नही सोचता कि विभिन्न पृष्ठभूमि एव अनुभूति के कारण जिस प्रकार 'भूत' शब्द के अनेक सकीर्ण और व्यापक अर्थ है, उसी प्रकार 'ईश्वर' शब्द के भी हो सकते है । न्यूटन, आइन्स्टीन, ह्वाइटहेड, तार्किक, भाववादी और एक सामान्य व्यक्ति 'भूत' की सत्ता मे विश्वास ही नही करते, बल्कि बोलचाल मे भी उसका खुलकर व्यवहार करते है । फिर भी, उन सबो की भूत सम्बन्धी कल्पनाए भिन्न-भिन्न है । उसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध मे अनेक कल्पनाए है । विशप बर्कले ने भी मनोबाह्य सत्ता के रूप मे भूत के सम्बन्ध मे सामान्य विश्वास को अस्वीकार किया था । फिर भी प्रत्यय समूह के रूप मे भूत का भी अस्तित्व स्वीकार किया था । इसलिये जिस प्रकार 'ईश्वर' शब्द को स्वीकार करने मे अत्यधिक सकोच दिखाते हुए भी निरीश्वरवादी सत्य, मानवतावादी मानवता एव प्रकृतिवादी प्रकृति के प्रति भावनात्मक कल्पना रखते हुए उसकी पूजा करता है, उसके आधार पर हम यह कह सकते है कि वह किसी न किसी रूप मे ईश्वर को भी स्वीकार करता है । दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि उसने भी देवता को चरम-मूल, चरम-भक्ति या परम प्रेम के रूप मे स्वीकार किया है । इस प्रकार गाँधी की धार्मिक कल्पना मे निरीश्वरवादियो को भी सम्मानपूर्ण स्थान मिल जाता है । यह ठीक है कि उन्होने अपनी आस्था और विश्वास का ऐसा मिश्रित रूप इसलिए रखा कि सार्वजनिक जीवन के अपने सभी सहयोगियो के साथ वे एकाकार हो सके । इसमे कोई सन्देह नही कि उन्होने अपनी प्रार्थना और नीख आध्यात्मिक साधना मे जिस आस्था का परिचय दिया, वह वस्तुत अधिक गम्भीर और शक्तिशालिनी है । उनके घनघोर सक्रिय जीवन के पीछे यही अपूर्व शक्ति काम कर रही थी ।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण

गाँधीजी को दर्शन का कोई शास्त्रीय प्रशिक्षण नही मिला था । किन्तु, धार्मिक पुस्तको विशेषकर ईसाई ईश्वर-मीमासा के अध्ययन और सभी प्रकार को लोगो के साथ धार्मिक प्रश्नो पर निष्ठापूर्वक चर्चा के कारण वे ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे प्राय सभी शास्त्रीय प्रमाणो से पूर्णत परिचित हो चुके थे । हिदुत्व के ऊपर हिन्दू-धर्म शीर्षक उनकी पुस्तक से कोई भी विज्ञ दार्शनिक ईश्वर सम्बन्धी प्रमाणो को खोजकर निकाल सकता है । जैसे हम कारण सम्बन्धी प्रमाण को उनके शब्दो मे पा सकते है - "यदि हमारा अस्तित्व है और हमारे पिता का और फिर उनके पिता, पितामह और प्रपितामह आदि का अस्तित्व है तो फिर हमे सम्पूर्ण जगत्-पिता के अस्तित्व को भी स्वीकार करना ही होगा ।"[1] इसी प्रकार हम दूसरी जगह विश्व विज्ञान सम्बन्धी और प्रयोजन मूलक युक्तियो को एक ही जगह मिश्रित पाते है - विश्व मे एक व्यवस्था है, एक अखण्डनीय नियम है जो सबका नियमन और निर्धारण करता है । यह कोई जड या अचेतन नियम नही है । जड नियम चेतन जीवो के आचरण और जीवन का नियमन नही कर सकता है । जो नियम सम्पूर्ण प्राणियो के जीवन का निर्धारण और सचालन करता है, वह ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नही है । नियम और नियम-निर्धारक दोनों एक ही है ।" ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे नैतिक-युक्ति को गाँधीजी अत्यधिक महत्व देते है और इससे वे सदा प्रेरणा प्राप्त करते रहते है । उनके लिये तो अन्तरात्मा की आवाज ही ईश्वर की आवाज है । उनकी अन्तदृर्ष्टि जिसको जानने के लिये वे निरतर व्रत एव उपवास करते रहे, मानव की दिव्य शक्ति और शुभ शक्तियो की साक्षात् ज्योति है । ईश्वर सम्बन्धी श्रुति प्रमाणो के प्रति भी उनकी रचनाओ मे आदरभाव है, "ईश्वर के विषय मे श्रुति-वचन सभी देशो एव सभी सम्प्रदायो में उनके ऋषि-मुनियां की अविच्छिन्न परम्पराओ और उनकी धार्मिक अनुभूतियो मे मिलते है ।" गाँधीजी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये बहुसख्यक जनता के विश्वास का भी आधार लेते हैं, "मै उन करोडों बुद्धिमान् व्यक्तियो मे हूँ जो ईश्वर में विश्वास करते हैं ।"

---

1 हिन्दू-धर्म - महात्मा गाँधी

इन सभी युक्तियो के बावजूद उन्होने लट्जे तथा अन्य दार्शनिको की तरह यह समझ लिया था कि कोई भी युक्ति हमे तब तक आश्वस्त नही कर सकती है जब तक हमे उसका कुछ भी प्रत्यक्ष अनुभव नही हो । वे स्वय कहते है "एक अवर्णनीय रहस्यमय शक्ति सब जगह व्याप्त है । मै उसको देखता नही हूँ किन्तु उसका अनुभव करता हूँ । वह अदृष्ट शक्ति है, जिसकी सत्ता का हम सभी अनुभव करते है, फिर भी वह सभी प्रमाणो से परे है क्योकि वह उन सबो से भिन्न है, जिनका हम इन्द्रियो से प्रत्यक्ष करते है । वह इन्द्रियातीत है ।"[1]

इसलिये सभी प्रमाणो के अन्त मे वे एक व्यवहारिक प्रमाण भी उपस्थित करते है –

"जो केवल बुद्ध को तुष्ट करे वह ईश्वर नही है । ईश्वर तो हृदय का सम्राट है और वह उसको प्रभावित करता है । सृष्टि की हर महानता मे हमे उसके दर्शन होत है ।

जो व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण चाहेगा उसे वह ईश्वर के प्रति जीवित विश्वास मे मिलेगा । चूँकि विश्वास का कोई बाहरी प्रमाण नही हो सकता है, इसलिये सबसे सुन्दर बात तो यही है कि हम विश्व की नैतिक व्यवस्था मे विश्वास रखते हुए सत्य और प्रेम आदि नैतिक नियमो की श्रेष्ठता को स्वीकार करे ।"[2]

सामान्यत विज्ञान–सम्मत प्राक् कल्पनाओ के आधार पर हम अपना व्यावहारिक जीवन चलाते है । गाँधीजी ठीक उसी प्रकार ईश्वर की कल्पना को मानकर व्यवहारिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के प्रति अपनी आस्था को आजीवन दृढ़ करते गये । सत्य और प्रेम–रूप ईश्वर की समस्त विश्व मे सत्ता है – इस कार्यकारी प्राक्कल्पना को स्वीकार करते हुए ठीक एक वैज्ञानिक की तरह गाँधीजी ने अपने व्यक्तिगत और राजनीतिक जीवन

---

1 आत्मकथा

2 यग इण्डिया – 19–10–1928

मे सभी लोगो के प्रति प्रेम और विश्वास का बर्ताव किया । इस प्रेम और विश्वास ने उनकी आस्था का दृढ किया । इसीलिये उन्होने अपने शत्रुओ के ऊपर भी प्रेम और विश्वास रखा। गम्भीर से गम्भीर राजनीतिक परिस्थितियो मे भी जब हम क्रोध और घृणा से पागल हो सकते थे, गाँधीजी ने मानव के अन्तर्निहित देवत्व मे कभी आस्था नही छोडी । गाँधीजी को बार-बार एव अभूतपूर्व सफलताओ ने भी उनके साथियो और शत्रुओ के हृदय मे ईश्वर के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी । इसी सन्दर्भ मे अग्रेज दार्शनिक सैम्युअल अलेक्जण्डर का वचन द्रष्टव्य है – "हमारा जिस प्रकार का मनोभाव होता है, हमे उसी प्रकार की वस्तु प्राप्त होती है । हम दूसरे व्यक्ति की आत्मा का सस्पर्श अपनी ही आत्मा से करते है ।"[1] ठीक यही बात ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे है । ईश्वर के प्रति अपनी आधारभूत आस्था के कारण ही ईश्वर मे उनका विश्वास बढता गया ।

जगत् – विचार

गाँधीजी का जगत्-विचार उनके ईश्वर-विचार से निसृत होता है । हाँ, वे व्यवस्थित रूप से किसी एक स्थान पर उसका प्रतिपादन नही करते है किन्तु विभिन्न सन्दर्भो मे उनके द्वारा इस सम्बन्ध मे प्रकट किये गये विचारो से हम उसका आभास पा सकते है।

प्राकृतिक सौन्दर्य :

उनके अनुसार प्रकृति सर्वव्यापी सामान्य सत्ता की बाह्य अभिव्यक्ति है । "ईश्वर ससार मे अनेकानेक रूपो मे प्रकट होता है और उनके प्रत्येक रूप के लिये हममे स्वय स्फूर्ति श्रद्धा एव भक्ति जाग्रत होती है ।" गाँधीजी के इस कथन से हम प्रकृति के सन्दर्भ मे उनकी आन्तरिक वृत्तियो का अदाजा लगा सकते है । सौभाग्य से भारतवर्ष एक विविध प्राकृतिक सुषमाओ से सम्पन्न देश है, जहाँ आकाश मे इठलाते मेघ , सूर्य के प्रकाश की प्रखर किरणें और चाँद की शीतलता, चमकते हुए तारे, ग्रह एवं उपग्रह, आकाश गगा

---

1 रिपलेक्शन्स आफ गाँधी

का सुहाना दृश्य परिवर्तनशील फल, फूल और अन्नादि से भरी-पूरी षड्-ऋतुएँ, उमडती हुई नदियाँ, कलकल निनाद करते हुए झरने और बालुकामयी मरूभूमियाँ है । यहाँ छोटी-छोटी झाडियाँ, नाना प्रकार के लता-गुल्म, ऊँचे-ऊँचे ताड एव बरगद के वृक्ष भी है । असख्य रूप-रग एव बोलियो के पक्षी, सौम्य हिरण, रग-बिरगे मयूर, रायल बगाल टाइगर और हाथियो के मतवाले झुण्ड भी यहाँ पाये जाते है । इसके अलावा इस देश के तीन ओर नीले समुद्र तथा बीच मे पर्वतो की ऋखलाएँ है और सबका मुकुटमणि हिमालय है, जिसकी दूर--दूर तक फैली हुई ऊँची गर्वोन्नत श्रृखलाएँ है । एक ओर हिमालय की ये पर्वतमालाएँ, ध्यानियो, योगियो को आकर्षित करती है तो दूसरी ओर प्राकृतिक सुषमाओ से दूर रहने वाली सामान्य जनता पर भी यह अपना श्वेतहिमहास बिखेरता रहता है । महाकवि कालिदास और रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने प्रकृति के सौन्दर्य को खूब अच्छी तरह निहारा, उसका रस लिया, फिर उसे अपने काव्य मे चित्रित कर देश के बाहर अमरत्व प्रदान किया । भारत की प्राकृतिक दशाओ ने भारत के बडे से बडे आधुनिक युग के वैज्ञानिको को भी आकर्षित किया । पौधों मे प्राण-सम्बन्धी जगदीश चन्द्र बसु की ऐतिहासिक खोज तथा सर सी0वी0 रमण द्वारा आकाश एव समुद्र के विभिन्न रगों के विषय मे महत्वपूर्ण आविष्कार की प्रेरणा सभवत इसी अद्भुत प्राकृतिक दृश्य से मिली होगी । काव्य और विज्ञान के साथ-साथ धर्म एव आध्यात्म की साधना भी शान्त एकान्त अरण्य-कानन एव पर्वत तथा नदियो के किनारे ही हुई है । हिमालय का इसमे विशेष स्थान रहा है क्योंकि इसमे प्रकृति के सभी साधन विद्यमान है ।

प्राकृतिक सुषमाओ के प्रति गाँधीजी अत्यन्त सवेदनशील रहे और उन्होने उनकी अपने ढग से व्याख्या की । उन्होने प्राकृतिक वातावरण मे प्राकृतिक जीवन जीने का ही प्रयत्न किया । उन्होने तो 'सियाराम--मय सब जग जानी' मे विश्वास करते हुए सम्पूर्ण प्रकृति को ईश्वर के दिव्य गुणो की अभिव्यक्ति समझा । इसीलिये उन्होंने प्रकृति-चेतन और अचेतन का परंपरागत भेद भी स्वीकार नहीं किया । सम्भवत इस विचार की प्रेरणा उन्हे सर जगदीश के अन्वेषणो से मिली होगी । उन्होने यह भी सोचा होगा कि विज्ञान

से पीछे इसका और भी अधिक समर्थन मिलेगा । इसी प्रकार आधुनिक विज्ञान मे डार्विन के विकासवाद से उन्हे जीवन की अमरता और अखण्डता का भी आधार मिला कि अनकानेक शरीर धारण करता हुआ भी एक, अखण्ड और अविनाशी तत्व है । डार्विन क सिद्धान्त से उन्हे मानवता के क्रमिक विकास की कल्पना को बल मिला । उसे कुछ जीवशास्त्रियो ने भले ही स्वीकार नही किया हो किन्तु पाश्चात्य जगत् मे आमतौर से उस मान्यता मिल चुकी है । इससे उन्नयनवाद मे उनकी आस्था और भी दृढ हुई और उन्होने यह समझा कि यदि मनुष्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करे तो वह अपना अभ्युदय कर सकता है ।

<u>प्रकृति की ओर</u> :

गाँधी के यतीत्ववाद को हम मानव का प्रकृति की ओर लौटना भी समझ सकते है । जल, पृथ्वी, अग्नि, प्रकाश और वायु आदि पचभूतो के व्यवहार से असाध्य लोगो का इलाज करने की प्राकृतिक चिकित्सा–पद्धति के प्रति उनका प्रेम उनके प्रकृति–प्रेम का ही एक उदाहरण है । उन्होने इसकी प्रेरणा 'जस्ट' की पुस्तक रिटर्नटु नेचर से ली । प्राकृतिक चिकित्सा–पद्धति मे उनका इतना अधिक विश्वास था कि कई बार उन्हाने अपने प्रिय से प्रिय व्यक्तियो की और स्वय अपनी जान की बाजी लगाकर प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग किये, जबकि उनकी स्वीकृति मात्र पर ही अच्छी से अच्छी आधुनिक–चिकित्सा प्राप्त हो सकती थी । उन्होने उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण के बीच लम्बी पद यात्राए की और सदैव पृथ्वी माता से अपना सस्पर्श बनाये रखा । ऋषि–रूप मे उनकी अर्द्धनग्न पोशाक भी ऐसी थी कि उनके सुगठित शरीर के अधिकतर भागो को प्रकाश एव वायु के स्वस्थ सस्पर्श का लाभ मिलता रहता था । उनकी यह अर्द्धनग्न वेश भूषा प्राकृतिक चिकित्सा के प्रति उनकी सामाजिक निष्ठा की भी द्योतक थी । उनका रहन–सहन भी यह बतलाता था कि हम प्रकृति के जितने ही समीप रहेंगे उतना ही अधिक स्वस्थ रहेंगे, इसीलिये हम जब भी अस्वस्थ हो जायें, हम प्राकृतिक जीवन की ओर चलने का प्रयास करना चाहिए। भोजन के ऊपर अनेकानेक प्रयोग कर मनुष्य के प्राकृतिक भोजन के विषय मे अन्वेषण करना उनकी एक हविस थी ।

किन्तु, इसके अतिरिक्त अपने मानसिक एव आध्यात्मिक स्वास्थ्य तथा शान्ति के लिये भी उन्होने प्रकृति की शरण ली । वे सूर्योदय के पूर्व तथा सूर्यास्त के समय तारो से भरे उन्मुक्त गगन और खुली वायु मे आश्रमवासियो के साथ प्रार्थना किया करते थे । एक बार जब राजनीतिक घटनाचक्र के कारण उनका दिल टूट गया था तो उन्होने हिमालय मे जाने की इच्छा जाहिर की थी किन्तु मानव-प्रेम ने उन्हे इसी ससार मे रखा ।

<u>सौन्दर्य-बोध</u> :

इन सब तथ्यो के आधार पर हम गॉधी के सौन्दर्य-बोध को भी समझ सकते है । उनके अनुसार जो वस्तु जितनी ही ईश्वर-प्रदत्त प्रकृति और ईश्वर-अश रूप मानव के समीप होगी, वह उतनी ही अधिक सुन्दर होगी । ईश्वर की अभिव्यक्ति प्राकृतिक सामञ्जस्य मे ही होती है, जहॉं किसी प्रकार का विचार नही रहता है और जहॉं घृणा तथा अशुभ के बदले मानव की साधुता और उसके प्रेम का दर्शन होता है । ईश्वर का दिव्य सामञ्जस्य मन एव प्राण को वशीभूत करता है और सौन्दर्य का उद्गम भी यही होता है । भारत मे कुछ लोगो के बीच, वृक्ष पूजा की ओर संकेत करते हुए गॉंधीजी कहते है कि "इसमें मुझे सचमुच मानव के अन्तर की गम्भीर सहानुभूति एव काव्यगत सौन्दर्य के दर्शन होते है । यह उन सम्पूर्ण वनस्पतियो के प्रति हमारे सच्चे समादर के भाव है, जो मानव अपने अनन्त रूप और रग, सौरभ और सुषमाओ के द्वारा सहस्त्रो मुखो से ईश्वर के दिव्यमान गा रहे है ।"[1]

इसी प्रकार जब उन्होंने हिमालय की गोद में स्थित हिन्दुओ के कुछ पवित्र तीर्थ स्थलो को देखा तो उन्हे वही सौन्दर्य-बोध हुआ । वे लिखते है कि "मै प्राकृतिक छटा देखकर मुग्ध हो गया --- और प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अपने पूर्वजो की सवेदनशीलता तथा सौन्दर्य के साथ धार्मिक भावना जोड़ने की दूर-दृष्टि का अनुमान कर सचमुच मै

---

1 यग-इण्डिया - 26-9-1922

उनके सामने श्रद्धा से नतमस्तक हो गया ।"[1] प्रकृति की बहुरगी छटाएँ, अनन्त आकाश मे आच्छादित तारिकाएँ एव अन्य ऐस ही प्राकृतिक दृश्य गाँधीजी की दृष्टि मे मनुष्य द्वारा बनायी गयी कृत्रिम कलाकृतियो से अधिक सुन्दर है । प्राकृतिक दृश्य सचमुच सौन्दर्य के शाश्वत प्रतीक है । वे इसलिये सुन्दर है कि सत्य, शिवम्, सुन्दरम्, रूप ईश्वर की दिव्य अभिव्यक्तियाँ है । उनके अधिष्ठातृ देव 'राम' का अर्थ ही है 'सुन्दर' ।

उन्होने उन्ही मानव–कृतियो मे सौन्दर्य का दर्शन किया, जहाँ सचमुच श्रम की साधना की गयी हो, जिसके लिये कोई शोषण नही हुआ हो जहाँ कोई लाभ नही हो तथा केवल मगल और मगल की भावना ही हो । सक्षेप मे, यदि हम कहना चाहे तो यही कह सकते है कि "सच्चा सौन्दर्य वस्तुत मानव की दैवी अभिव्यक्ति है ।" नैतिक आदर्शो के सदर्भ मे मानवीय कर्मों का निरन्तर मूल्याकन करते रहने के कारण वे 'शिव' या 'शुभ' मे सुन्दर और अशुभ मे असुन्दर देखने के अभ्यासी बन गये थे । अवकाश के क्षणो मे चर्खे के द्वारा अर्द्ध बेरोजगारो के अभिशाप को ग्रामीण जीवन से दूर करना उनके लिये समाज–सेवा का एक आदर्श बन गया था और उन्होने लाखो–लाख चर्खे गाँवो मे चलवाये । इसलिये चर्खे का सगीत उनके लिये दिव्य सगीत बन गया । दूसरी ओर कल--कारखाने, जिन्होने शात और सौम्य ग्रामोद्योगो को नष्ट कर दिया, घरो को उजाड दिया, मालिक मजदूरो के बीच सघर्ष पैदा किये – प्रकृति से दूर एक हृदयहीन, अधकारमय कुरूपता के द्योतक है । इसलिये उन्होने मिल के महीन सूतो मे एक प्रकार की 'निर्जीव काति' देखी । दूसरी ओर हाथ के कते और बुने खादी के वस्त्र उन्हे मुलायम, सुन्दर और अच्छे प्रतीत होते थे इसका मोटापन या खुरदुरापन भी उन्हे प्राकृतिक लगता था ।

जहाँ तक चित्रकला और संगीत आदि अधिक उत्कृष्ट कलाओं का प्रश्न है, वे उन्हे अन्तरात्मा की आकाक्षाओ की बाह्य अभिव्यक्तियो के रूप मे ही स्वीकार करते है । वे हमारी आध्यात्मिक साधना मे सहायक होते हैं । उनका कथन है कि "सभी सच्ची

---

1 आत्मकथा

कलाएँ आत्माभिव्यक्ति मात्र है । उनके बाहरी रूप का मूल्य इसी मे है कि वे मानव की अन्तरात्मा को अभिव्यक्त करते है । सभी सच्ची कलाओं का यह उद्देश्य है कि वे आत्मसाक्षात्कार मे हमारी सहायता करे ।"

सत्य मे भी सच्चा सौन्दर्य है । सभी सत्य सुन्दर होते है । केवल सत्य विचार ही नही, बल्कि सत्यनिष्ठ व्यक्ति का मुख–मण्डल, सच्चा मित्र या सच्चा सगीत भी सुन्दर होता है। सबसे अधिक तो जीवन–शुद्धि ही सबसे बडी कला है ।

गाँधीजी के विचार मे सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् मे भेद नही है । यह इसलिये कि उनके अनुसार यह ईश्वर इन तीनो की त्रयी है । और इसी कारण ईश्वर को सत्य, शिवम्, सुन्दरम् कहा जाता है । इसी बात को यदि हम आत्मसात् दृष्टि से समझना चाहे तो हमे यह मानना होगा कि गाँधीजी इसके माध्यम से हमारे मानसिक जीवन की त्रयी–चितन, भावना और इच्छा का सामञ्जस्य करना चाहते हैं । समग्र मानसिक जीवन के लिये हम तीनो मे से किसी की उपेक्षा नही कर सकते । या हमे यह कहना चाहिए कि हमारा समग्र व्यक्तित्व और हमारा समग्र मानस सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् से अलग नही, बल्कि समग्र रूप से एक साथ ही प्रभावित होता है । कोई भी चित्र, जो सुन्दरता के एकागीन मानदण्ड से बनाया जाएगा, समग्रतावादी मानस को तुष्टि प्रदान न करेगा क्योकि उसमे सामञ्जस्य का अभाव है । इसलिये गाँधीजी कभी 'कला के लिये कला' का सिद्धान्त नहीं मानते। सम्पूर्ण एव समग्र मानस को सन्तुष्ट करने वाली परिपूर्ण कला का सृजन कोई सर्वागपूर्ण कलाकार ही कर सकता है । सच्ची कला से सुख, सतोष और कलाकार के जीवन की सात्विकता प्रकट होती है ।

<u>प्रकृति के नियम और उसमें ईश्वर का स्थान</u> :

प्रकृति के सौन्दर्य के साथ–साथ उसमे एक अन्य चीज भी, जिसने गाँधीजी को बहुत प्रभावित किया था, वह थी प्रकृति की नियमबद्धता । सूरज हो या चाँद या

तारे, सभी किसी न किसी नियम से परिचालित होते है । हर जगह कोई न कोई नियम है, और यह भी सच है कि उसके बिना एक क्षण भी प्रकृति नही चल सकती । प्रकृति के उस अखण्ड और अटूट नियम के पीछे गाँधीजी विश्व–व्यवस्था की दैवी शक्ति ही मानते है, जो विश्व को नाश और सहार से बचाती रहती है । उनके लिये यह शक्ति ईश्वर के सिवा और कुछ नही है और प्रकृति का यह नियम भी उसी शक्ति से प्रचलित होता है । इसलिये, वे ऐसा मानते है कि अन्ततोगत्वा नियम और नियामक मे कोई अतर नही है । ईश्वरीय नियम और ईश्वर कोई अलग–अलग नही है ।

ईश्वरवादी होने के नाते गाँधीजी यद्यपि ईश्वर की अनुकम्पा और करूणा मे आस्था रखते थे, किन्तु उनकी यह करूणा इस नियम का खण्डन नही करती थी । मनुष्य को अपने कर्म का फल भोगना ही पडेगा । इसीलिये वे कर्म–सिद्धान्त मे विश्वास करते थे, जिसके अनुसार प्रत्येक कर्म का ईश्वर नियमानुसार फल प्रदान करता है । वे कहते भी है – "जैसा मनुष्य बोयेगा, वैसा ही काटेगा । कर्म का सिद्धान्त अखण्डित और अखण्डनीय है । इसलिये ईश्वर के हस्तक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता । ईश्वर तो नियम का निर्धारण कर देता है, फिर वह हमे भी यो ही छोड़ देता है ।"[1]

चूँकि मानव और प्रकृति, दोनो ही ईश्वरीय नियमो का पालन करते है, इसलिये वे दोनो एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालते है । हमारा पाप हमे स्वत दण्ड का भागी बनाता है । किसी एक गलत सामाजिक प्रथा की आलोचना करते हुए वे कहते है, "मै उस हद तक अन्धविश्वास स्वीकार करता हूँ जिसके अनुसार मेरा यह दृढ विश्वास है कि राष्ट्र को अपने सारे पापो का फल स्थूल रूप से भोगना ही पडता है । हमारी यह दासता हमारे संचित पापो का ही दण्ड है ।" इसी तरह उन्होंने बिहार के भयंकर भूकम्प को भी हमारे समाज मे व्याप्त अस्पृश्यता का दैवी दण्ड माना था ।

---

1 आत्मकथा

लेकिन जो व्यक्ति प्रकृति के ईश्वरीय नियमो को विवेक और प्रेप के रूप मे अवस्थित अन्तरात्मा के माध्यम से जाता है और उसी के प्रकाश मे जो अपने सकल्प और चरित्र का निर्माण करता है, वही ईश्वर की अनुकम्पा और ईश्वरीय नियमो का लाभ ले सकता है । प्राकृतिक नियम के अनुसार जीवन-यापन करने पर उसे स्वास्थ्य, सुरक्षा और समृद्धि मिलेगी । इसी तरह यदि वह लोगो के साथ प्रम से बर्ताव करेगा तो उसे दूसरा से प्रेम और सहानुभूति मिलगी । इस दृष्टि से यदि हम विचार करे तो ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण का अर्थ प्रेम, सामञ्जस्य और विवेक आदि ईश्वरीय विभूतियो को उनकी आज्ञा मानकर स्वीकार करना होगा । इसी तरह 'आत्म-विसर्जन' से हमें अपने अशुभ सकल्पो का विसर्जन मानना चाहिए । जिसके कारण मनुष्य और प्रकृति तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सघर्ष, असामञ्जस्य तथा अविवेक का उदय होता है । जैसा कि हमने देखा है, गॉधीजी के लिये प्रार्थना कोई भिक्षाटन नही, किन्तु भगवान् की ध्रुव स्मृति की एक साधना है ताकि हमारा जीवन ईश्वरीय नियमो के अनुसार चले । बिना भगवत्-कृपा के हमारा उद्धार सभव नही और यह भगवत्-कृपा और कुछ नही, बल्कि ईश्वर की अनुकम्पा से हमारे मस्तिष्क और हृदय मे व्याप्त प्रेम और विवेक का स्फुरण है ।

इस तरह हम देखते हैं कि गॉधी का ईश्वरवाद प्रकृतिवाद से बहुत दूर नही है । यदि सत्य और विवेक के प्रति इसकी निष्ठा है तो सही अर्थ मे प्रकृतिवाद हमारी बुद्धि और मस्तिष्क से उद्भूत एक सिद्धात है, जिसको हमारे नैतिक मूल्यो और सावेगिक मूल्याकन से कोई सम्बन्ध नही है । किन्तु इस सिद्धातो का यदि हमारे संवगो के साथ सस्पर्श हो जाय तो फिर जैसा विलियम जेम्स ने कहा है - "यह निर्जीव प्रकृति सजीव होकर हमारे सखा और साथी के रूप मे हमें आनन्द प्रदान कर सकती है ।" गॉधीजी की सतुलित बुद्धि मे ज्ञान के साथ भावना और इच्छा का इतना सुन्दर सयोग था कि उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे भावना के साथ बुद्धि और बुद्धि के साथ कर्म का अद्भुत सुन्दर सयोग हो गया । सर्वागीण विकास के इस आदर्श के सम्बन्ध मे वे कहा करते थे - "ईश्वर केवल बुद्धि को ही आश्वस्त नहीं करता, बल्कि हमारे हृदय पर भी उनका अधिकार रहता

है और अपने भक्तो के छोटे से छोटे कर्मों मे उनकी अभिव्यक्ति होती है।"[1]

प्रकृतिवाद की इस प्रकार की ईश्वरवादी व्याख्या को अवैज्ञानिक कहना विज्ञान की सीमा और विज्ञान के क्षेत्र की उपेक्षा करना है। शुद्ध विज्ञान सावेगिक मूल्याकन या सत्य के व्यावहारिक उपयोग से सम्बधित नही है। किसी सुमधुर सगीत के किसी विशेष ताल, स्वर और राम को समझने की वृत्ति यदि अवैज्ञानिक नहीं है और अणु-परमाणु के किसी सश्लिष्ट समग्राकृति के एक क्लिण्ट गणितीय फार्मूला को अपनी साक्षात्-प्रियतमा के रूप मे समझकर उसमे तल्लीन होना यदि अवैज्ञानिक नही है, तो फिर स्वय विज्ञान द्वारा उद्घाटित इस प्रकृति की अद्भुत व्यवस्था के प्रति प्रेम या इसका रसास्वादन भी अवेज्ञानिक नही हो सकता। अन्त में यह हमारी अभिरूचि और इच्छा पर निर्भर है कि हम वैज्ञानिक विचारो के साथ-साथ अपनी भावनाओ और क्रियाओ का अच्छे से अच्छा अनुबन्ध किस प्रकार बिठा सकते है। गाँधीजी जहाँ एक ओर एक सच्चे नास्तिक के साथ भी सहृदयता दिखाते थे, वही वे ईश्वर के विषय मे भी बोलते नही अघाते थे। उनका कहना था कि, "जिन्हे भगवान के सस्पर्श की अपेक्षा है, वे उसके अधिकारी है।"[2]

गाँधीजी की प्रकृति भी परमात्मा के सस्पर्श की आकाक्षा और अपेक्षा रखती थी। उन्होने सामान्य वैज्ञानिक विचारधारा को भरसक अपनाने की कोशिश की और इसी क्रम मे प्रकृतिवाद के प्रति इतनी सहृदयता भी दिखायी। किन्तु, जहाँ विज्ञान रूककर चुप हो जाता था, गाँधीजी सत्य के शोध मे वहाँ से और भी आगे बढ़ते थे। ईश्वर के प्रति उनकी आस्था का यही रहस्य था, जिससे उन्हे शक्ति शाति मिलती थी। उन्होने यह बराबर अनुभव किया कि विज्ञान ने अपने नियमो के अनुसार प्रकृति के रहस्यो को समझने की जितनी कोशिश की, उससे मानवी बुद्धि की सीमा प्रकट होती गयी। प्रकृति मे न जाने कितनी ही अकथनीय एव अवर्णनीय घटनाएँ है और इस परिवर्तनशील जगत् को समझने

---

1 आत्मकथा

2 आत्मकथा

मे भी हमारे मन मे न जाने कितनी अस्पष्टताएँ एव शकाएँ है । इनमे कुछ अवर्णनीय घटनाओ के पीछे उन्होने ईश्वर की माया को ही देखा । उदाहरण स्वरूप, कभी--कभी जब उन्हे रूपये-पैसे की अत्यत जरूरत रहती थी तो बिना मागे किसी अज्ञात स्रोत से उनहे रूपये मिल जाया करते थे । उसी तरह, उन्हे और उनके आश्रमवासियो को दक्षिण अफ्रीका मे, जहाँ बहुत ज्यादा साँप पाये जाते थे, एक बार भी सर्प-दश का कष्ट नही भोगना पडा और उन्होने कभी अपने यहाँ साँप को मारने भी नही दिया । एसी ही घटनाओ की पुनरावृत्ति पर जब वे आत्म-विश्लेषण करते है तो कह उठते है, - "मै तो इस परिस्थिति मे भगवान की कृपा का ही दर्शन करता हूँ और इसमे हमारा अटल विश्वास भी है । इन घटनाओ की व्याख्या के लिए मेरे पास कोई दूसरा शब्द नही है ।"[1] उनका दृढ विश्वास है कि "ये सब चीजे कोई आकस्मिक घटनाए नही, बल्कि ईश्वर की लीला है ।"[2] इसके लिए चाहे उन्हे कोई अधविश्वासी या रूढिवादी भी कहना चाहे तो वे वैसा कहलाना ज्यादा पसन्द करेगे । वह ईश्वर की आस्था का, चाहे वह घोर अधविश्वास ही क्यो नही कहा जाय, किसी भी स्थिति मे परित्याग नहीं कर सकते थे । जब किसी चीज को समझने मे हमारी बुद्धि ठिठक जाती है, असभव भी सभव हो जाता है और फिर भी, जब उसे हम केवल अन्ध सयोग ही नही मानना चाहते हैं तो हमारे सामने उसे केवल प्रभु की माया कहने के सिवा कोई उपाय नही रह जाता ।

<u>प्राकृतिक आक्रोश और अभिशाप</u> :

प्रकृति के मगल और सुन्दर पक्ष के साथ--साथ गाँधीजी उसके अन्तर्गत सघर्ष और सहार, मृत्यु और प्रलय के तत्वों से भी पूर्णत परिचित थे । किन्तु, विश्व के विकास की घटनाओ पर दृष्टिपात करने पर उन्हें यह विश्वास हो गया था कि ससार मे सघर्ष और घृणा के ऊपर सहयोग और प्रेम का आधिपत्य रहा है और यही कारण है कि नक्षत्र एव तारे परस्पर टकराकर चूर-चूर नहीं होते और पशु-पक्षी भी एक-दूसरे के साथ सहजीवन

---

1 आत्म-कथा

2 आत्म-कथा

व्यतीत करत है। हिसक-से-हिसक पशुआ मे भी प्रेम का तत्व रहता है, जिसकी अभिव्यक्ति हम बच्चो के पति उनके वात्सल्य की कोमल भावनाओं मे पाते है। प्रेम के कारण ही उनका परिवार भी कायम रह पाता है। कीडे-मकोडे, पशु-पक्षी आदि प्राणियो मे यूथचारिता की मूल प्रवृत्ति भी सबो के भीतर परस्पर प्रेम और भातृत्व की भावना को ही पुष्ट करती है। प्रकृति मे एक दूसरे के प्रति प्रेम है और प्रेम के बल पर ही प्रकृति टिकी हुई है। यदि मनुष्य को अपना विकास करना है तो उसे प्रेम के इस अमृतोपम और सार्वजनीन सिद्धात मे विश्वास रखना ही होगा और उसी के आधार पर समाज का भी सगठन करना होगा।

मानव के द्वारा किये गये कर्मों का प्रकृति के ऊपर जो भारी प्रभाव पडता है, उसके विषय मे कभी-कभी गॉधीजी का विश्वास उन्हे काफी दूर तक सोचने को बाध्य करता हैं। उनका विश्वास है कि मानव के अन्दर की घृणा केवल मानवो के अन्दर ही नही, बल्कि प्रकृति मे भी घृणा भाव पैदा करती है। सम्पूर्ण प्रकृति-जगत् गतिशील शक्तियो का व्यापक क्षेत्र है, जिसमे कही भी साधारण उत्तेजना, दृश्य और अदृश्य रूप से सम्पूर्ण जगत् को आन्दोलित करती है। ऐसा ही विचार हाइटहेड का भी है। इसी विश्वास के कारण गॉधीजी ने एक बार यह कहा था कि सर्प या व्याघ्र तो मानव के अन्तर्गत क्रोध एव हिसा और विध्वस की भावना के प्रत्युत्तर में प्रकृति या परमेश्वर-प्रदत्त अभिशाप है। शायद वे योग-दर्शन के उस सिद्धात में विश्वास रखते है, जिसमे कहा गया है - 'अहिंसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग।' अर्थात् अहिंसक व्यक्ति के पास हिंसक से हिंसक प्राणी भी अपना वैर त्याग देते हैं। वाल्मीकी ने भी कहा है - "तदा प्रभृतिर्निर्वेरा प्रशाता रजनीचरा।" गोस्वामी जी ने वाल्मीकी के आश्रम का वर्णन करते हुए लिखा है - बमरू बिहाई चरहि एक सगा, जहँ-तहँ मनहु सेन चतुरगा। असल मे प्रेम से प्रेम ही मिलता है। सत्सकल्प से शुभ प्रकट होगा ही।

<u>यह विराट् विश्वः दिक् और काल :</u>

दिक् और काल के विषय में गॉधीजी की मान्यताए भारतीय दर्शन की सामान्य

धारणाओ पर ही आधारित है । भारतीय दर्शन के अनुसार किसी काल-विशेष मे जगत् की सृष्टि नही हुई है । पाश्चात्य तार्किक एव वैज्ञानिक मानते है कि किसी घटना का कारण अव्यवहित अनुपाधिक और नियम पूर्ववर्ती है । इसीलिये यदि हम वर्तमान जगत् की किसी घटना या सभी घटनाओं को मिलाकर कारण का पता लगाना चाहेगे तो हमे स्वभावत उसके ठीक पूर्ववर्ती है । इसीलिए यदि हम वर्तमान जगत् की किसी घटना या सभी घटनाओ को मिलाकर कारण का पता लगाना चाहेगे तो हमे स्वभावत उसके ठीक पूर्ववर्ती को मिलाकर कारण का पता लगाना चाहेगे तो हमे स्वभावत उसके ठीक पूर्ववर्ती को और इसी प्रकार उस पूर्ववर्ती को जानना होगा । यदि कारण जानने की हमारी जिज्ञासा बनी रहेगी तो फिर पूर्ववर्ती के पूर्ववर्ती को जानने का क्रम कभी रूकेगा नही । हॉं, यदि हम यदृच्छया कही रूक भी जाय तो अलग बात है । लेकिन फिर भी, प्रश्न उठेगा कि जहॉं हम किसी घटना-विशेष पर आकर रूक जाते है, उसका क्या कारण है ? इसीलिये क्रमिक श्रृखला के रूप मे काल का स्वरूप ही ऐसा होगा, जिसमे हम सम्यक् रूप से यह नही कह सकते है कि कालक्रम मे काल का प्रथम आविर्भाव कब हुआ । इसीलिये यह जगत् अनादि माना जाता है। काल भी अनादि और अनत है ।

काल के विषय मे सामान्य भारतीय सिद्धात के अनुसार, चाहे वर्तमान मे भले ही न हो लेकिन भूत और भविष्य को भी लेकर जब हम विचार करेगे तो हमे काल मे अनत विभाग और क्रम दीखेगे । इसी कारण हम किसी घटना के ऊपर दूर-दृष्टि से विचार करते है । मालतीमाधवम् मे सस्कृत के महान कवि भवभूति ने कहा है - कालो ह्यय नरवधिर्विपुला च पृथ्वी उत्पत्स्यते च मम कोऽपिसमानधर्मा - [1] काल ने गॉंधीजी का बहुत साथ दिया । उन्हे यह आशा थी कि सत्य और अहिंसा एक दिन अवश्य सफल होगी । इसलिये एक शकालु व्यक्ति को उन्होंने यह कहा था - 'काल के अनत प्रवाह में एकाध हजार वर्ष का समय तो कुछ भी नही है ।'[2] यही कारण था कि हम गॉंधीजी

---

1 मालतीमाधवम्

2 आत्म-कथा

मे इतना अधिक धैर्य, आशावादिता और दूर दृष्टि पाते है ।

काल की तरह दिक् का भी विश्व मे अनत विस्तार भारतीय मानस को अत्यत प्रभावित करता है । हमारा यह विश्व तो विराट् ब्रह्माण्ड का एक क्षुद्र अश है । न जाने ऐसे कितने विश्व अतरिक्ष और पाताल मे होगे । हिदू शास्त्रो मे चौदह भुवनो की चर्चा है । धार्मिक सत और कवि तथा वैष्णव मतावलबी विश्व की इस व्यापकता से अपने लिये नम्रता का पाठ ग्रहण करते हुए यह सोचते है कि पृथ्वी की तुलना मे मानव ब्रह्माण्ड के सामने हमारी यह पृथ्वी कितनी क्षुद्र है । गाँधीजी के द्वारा नम्रता की सतत साधना का भी यही आधार था । उन्होने यह अनुभव किया कि इस विराट् विश्व के समक्ष यह मानव–शरीर कितना हीन और क्षुद्र है । किन्तु शायद इस हीनता की भावना के विपरीत ही उन्होने मानव आत्मा की असीम शक्ति तथा वैष्णव मत के अनुसार 'दुर्लभ यह मानुष तन पावा' के विचार को आगे बढाया ।

मानव :

मनुष्य एक सश्लिष्ट जीव है । उसका शरीर प्रकृति द्वारा निर्मित प्रकृति का ही एक अग है । वह प्रकृति के नियमो के अनुसार ही जन्म लेता और मरता है । माँ--बाप उसके जन्मदाता है और उन्ही से उसका यह मानव–शरीर मिला है । इसलिये जिस पूँजी के आधार पर वह अपना जीवन–महल निर्माण करता है, वह एक पैतृक सम्पत्ति है । वातावरण का भी प्रभाव उस पर पडता ही है । किन्तु, मनुष्य केवल एक भौतिक शरीर ही नही है । उसमे चेतना, तर्क, विवेक, भावना, सकल्प आदि शक्तियाँ भी विद्यमान है, वे सब आत्मा की अभिव्यक्तियाँ है । किन्तु, शरीर, कभी आत्मा, कभी जड कभी चेतन--रूप मे प्रकट होता है । फिर भी, गाँधी द्वैतवादी नही, बल्कि एक ही सर्वव्यापक सत्ता मे आस्था रखने वाले अद्वैतवादी विचारक थे । भारतीय और पाश्चात्य दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि द्वैतवादी और अनेकवादी दार्शनिको ने विश्व की व्याख्या के लिए दो या दो से अधिक चरम तत्वो को स्वीकार किया है । किन्तु, उनके सामने भी यह समस्या खड़ी हुई कि यदि ये दोनों तत्व एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न और स्वतत्र

है तो फिर उनका परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार सम्भव है । शरीर और मन का परस्पर सम्बन्ध तो निर्विवाद ही है । इन्ही सब कठिनाइयो से बचने के लिए अद्वैतवादी विचारक किसी एक सर्वव्यापी सत्ता को स्वीकार कर जगत् की कई तरह से व्याख्या करने का प्रयत्न करते है । सामान्यत दो प्रकार के अद्वैतवादी है । शकर और उनके मतावलबी निरपेक्ष और बिल्कुल शुद्ध अद्वैतवाद को मानते हैं । इसीलिये जगत् की विविधता और इसके समस्त परिवर्तनो को वे माया बताते है । उनके अनुसार शरीर और मन दोनो ही अद्वितीय परम सत्तारूपी ब्रह्म के ही परिच्छिन्नाभास है । इसलिए मानव की आत्मा वस्तुत ब्रह्म का ही रूप है । अज्ञानवश अपने वास्तविक स्वरूप को नही समझने के कारण ही मनुष्य अपने को समीप समझता है, किन्तु जब वह अपना सच्चा स्वरूप जान लेता है तो फिर जीव-ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति कर लेता है । इसलिये इसको अद्वैत कहते है जिसका शाब्दिक अर्थ ही है, 'द्वैत' का अभाव (अ + द्वैत) । जब कोई प्रश्न करता है कि क्या जीव और ब्रह्म अलग-अलग दो तत्व है – तब अद्वैतवाद का उत्तर होता है – नही, जीव और ब्रह्म एक है ।

भारत मे दूसरे प्रकार का भी अद्वैतवाद प्रचलित है, जो ब्रह्म के रूप मे एक मात्र सर्वव्यापक सत्ता को स्वीकार तो करते है किन्तु ससीम आत्मा और विश्व के नविध्य को केवल माया ही नही मान लेते है । उनके अनुसार, वाह्य जगत् की वस्तुये मानव-शरीर एव आत्मा आदि सब ससीम होते हुए भी सत्य हैं । इस प्रकार के अद्वैतवादी ससीम जीव और ससार की अनेकता का एक चरम सत्ता के साथ सम्बन्ध-निरूपण करते हुए उन्हे उसी एक सत्ता के अनेक रूप मानते है । वे सभी जीव और ब्रह्म के अभेद-सम्बन्धी शाकर-सिद्धात को अस्वीकार करते हैं । इन सब आचार्यो ने वेदात के अन्तर्गत वैष्णव मत पर आधारित कितने ही प्रस्थान बनाये है, जो शंकर के अद्वैतवाद से भिन्न है ।

हम पहले ही विचार कर चुके है कि यद्यपि गाँधीजी स्वयं अपने को अद्वैतवादी कहते है किन्तु वे सही रूप मे शकर अद्वैत के अनुयायी नही कहे जा सकते, क्योकि वे

ससार को बिल्कुल माया नही मानते है । 'अद्वैतवाद' से उनका तात्पर्य सामान्य रूप से अद्वैत सिद्धात की प्रतिष्ठा करनी है । अद्वैत शब्द को इस देश मे भारी प्रतिष्ठा मिली है और कभी-कभी तो प्रखर द्वैतवादी मध्वाचार्य के दर्शन को भी उनके अनुयायियो ने 'स्वतन्त्र अद्वैत', रामानुज के दर्शन का 'विशिष्टा द्वैत', बल्लभ के सिद्धात को 'शुद्धाद्वैत' तथा निम्बार्क के मत को 'द्वैताद्वैत' की सज्ञा दे दी है । गाँधीजी भी इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए दिखाई देते है ।

जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध मे गाँधीजी के विचार शाकर-मत की अपेक्षा वैष्णव-विचारक के अधिक समीप है । वस्तुत, वे जीव और ब्रह्म के विषय मे वास्तविक सम्बन्ध की जटिलताओ मे जाना ही नही पसन्द करते थे । इसलिये यह कहना कठिन है कि वे उक्त चार वैष्णव सम्प्रदायो मे किसके अनुयायी थे । गीता पर अपनी छोटी टीका मे उन्होने कही भी ऐसे प्रत्ययो का व्यवहार नही किया है जिससे उनका वैष्णव दृष्टिकोण प्रकट होता हो । वह उन्हे परिवार से वशगत रूप मे मिला और ईसाई तथा इस्लामी प्रभावो से पुष्ट हुआ । उदाहरण स्वरूप, वे ईश्वर को बार-बार प्रभु एव आदर्श पुरूष और भक्त को ईश्वर का दास कहते है । जीव को वे ईश्वर का अश मानते है । कभी-कभी तो वे जीव-मात्र को ही ईश्वर का अवतार कहते है । वे अपनी सबसे प्रसिद्ध उक्ति को, जो आधुनिक समय मे इस्लाम के अनुयायियो मे प्रचलित है, बार-बार दुहराते नही थकते थे - "आदम खुदा नही, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं ।"[1]

यहाँ भी हम जीव और ईश्वर के बीच एक प्रकार के भेदाभेद सम्बन्ध का दर्शन करते है । इसको वैष्णव-मत के वेदान्तीगण के अनेक रूपो मे और आधुनिक समय मे रवीन्द्र नाथ ठाकुर आदि ने भी स्वीकार किया है । शाकर मतावलबी निरपेक्ष अद्वैत समर्थक

---

1 आत्म-कथा

है । गाँधीजी ईश्वर और जीव की कल्पना को गतिशील और जहाँ तक हो सके नम्य ही रखना चाहते है और इसीलिये वे ईश्वर को शक्ति-स्वरूप प्राण रूप आदि मानते हुये उनके विभिन्न अवतारो को भी स्वीकार कर लेते है ।

जीव :

इस जगत् मे जीव की वास्तविक सत्ता है और ईश्वर सभी जीवो का आधार है । उन्होने सभी जीवो को एक-दूसरे से अविच्छेद्य रूप मे बाँध रक्खा है । इसलिये जहाँ वे कभी व्यक्ति के परम पुरूषार्थ को मानते है वही वे अत्यन्त मुखर होकर कहते है, "मै ईश्वर को एक मानता हूँ और इसलिये मानवता की आधारभूत एकता मे भी विश्वास करता हूँ । क्या हर्ज है कि हमारे शरीर अलग-अलग है किन्तु हमारी आत्मा तो एक है। यह ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार सूर्य की रश्मियाँ अपवर्तन के प्रभाव से विभिन्न रगो की दीखती है किन्तु वास्तव मे उन सबों का स्रोत एक ही है ।"[1]

अच्छा होगा, यदि यहाँ हम मनुष्य या जीव के सम्बन्ध मे प्राचीन और नवीन भारतीय विचारो को जान ले ताकि हम गाँधीजी के विचारो को अधिक स्पष्टता से समझ सकेगे । एक ओर जहाँ इसकी जानकारी समाज, राज्य एव उनके प्रति व्यक्ति के कर्तव्यो की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है, वहाँ दूसरी ओर इसके विषय मे काफी भ्रम भी है ।

इस सम्बन्ध मे एक विशेष बात समझने की यह है कि भारतीय ईश्वरवादी यद्यपि ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते है, वे यह नही स्वीकार करते कि ईश्वर ने जीव की भी सृष्टि की है । जीव या आत्मा तो परमात्मा के साथ-साथ अनादि और नित्य है । हाँ, जीव ईश्वर का अश माना गया है, इसलिये ईश्वर को जीव का आधार भी कहा जाता है । स्रष्टा के रूप मे ईश्वर विभिन्न भौतिक तत्वो से सृष्टि करता है । वह नित्य रूप

---

1 आत्म-कथा

से विद्यमान भौतिक तत्वो म विभेदन और संघटन--प्रक्रियाआ के द्वारा विभिन्न जीवधारियो के शरीर और उनके योग्य पदार्थो का सृजन करता है । इस प्रकार मानव और पशु--योनि की आत्माएँ अमर और अविनाशी है और उनका सृजन होता है, न नाश ही । अन्य दशो के ईश्वरवाद की तुलना मे सचमुच यह एक विशेष रूप से आकर्षक कल्पना मालुम पडती है ।

शकर और उनके अनुयायी भी पारमार्थिक दृष्टि से जीव और ईश्वर के भेद को स्वीकार नही करते है । किन्तु वे भी व्यावहारिक दृष्टि से यह मानते है कि चूँकि हम लोग अज्ञानावस्था मे है, हमे जीव के अलग–अलग अस्तित्व को मानकर चलना ही होगा । हम अपना यह अज्ञान भी यथार्थ आत्मज्ञान के द्वारा हटा सकते है । इसी शरीर और मस्तिष्क से हम अपने और अपने इस जगत् के विषय मे ज्ञान प्राप्त कर अपने राग–द्वेष तथा कुविचारो और कुसस्कारो का उन्मूलन करते है । चाहे हमारा यह शरीर हो या परिवार, समाज हो या राज्य–सस्था, हम इन सभी का उपयोग अज्ञान के बन्धनो से व्यक्ति के उद्धार के लिये ही करते है, ताकि ब्रह्म के साथ हम तदाकार हो सके । सक्रिय रूप से अनवरत लोकसेवा तथा समाज–सगठन मे व्यतीत शकराचार्य का सम्पूर्ण जीवन ही इसका ज्वलन्त प्रमाण है ।

जो बौद्ध दार्शनिक किसी नित्य पदार्थ के अस्तित्व में विश्वास नही करते और इसी कारण ईश्वर या आत्मा को भी स्वीकार नहीं करते, वे भी प्रकारातर से अविद्याजनित कारणो से पच–स्कध रूप जीवात्मा को मानते ही है । शांकर–मतावलम्बियो की तरह वे भी यह समझते है कि मानव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर तथा मानवीय भावनाओ और सकल्पो को क्रियान्वित करने पर भी हम निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं । दुखी मानवता के उद्धार के लिये भगवान बुद्ध का सुदीर्घ और सक्रिय जीवन महान् करूणा का द्योतक है ।

आत्मा के विषय में विभिन्न भारतीय विचारको मे चाहे जो भी विभेद रहे हो, वे सभी मानव व्यक्तित्व की प्राथमिक और व्यावहारिक महत्ता को स्वीकार करते हुए ज्ञान,

सयम और निष्काम कर्म के द्वारा इसको सुगठित और सुनियोजित करने पर बल देते है । यद्यपि कुछ विचारक चरम स्थिति को अतिवैयक्तिक मानते है, फिर भी व्यावहारिक जीवन मे मानव व्यक्तित्व की कोई भी अपेक्षा नही करता ।

यह सच है कि भगवान् बुद्ध और शकराचार्य के उपदेशो को बहुधा गलत समझा गया और उनका गलत उपयोग भी हुआ । उनके सिद्धातो मे जो निबन्धात्मक तत्व थे, उन्होने इसके भावात्मक एव सर्जनात्मक तत्वो को दबा दिया । ठीक यही हाल ईसाई मत मे भी हुआ, जगत और जीवन–विमुख काया–क्लेश की प्रवृत्तियाँ और परम्परायें इसके भावात्मक पक्ष पर हावी हो गयी । इस तरह यह कहा जा सकता है कि ससार मे प्राय ऐसा कोई भी सिद्धात नही है, जिसका दुरूपयोग नही हुआ हो । किन्तु, पिछले सौ वर्षो के आधुनिक युग मे भारत की प्राचीन दार्शनिक चिन्तनधारा के अन्तर्निहित सर्जनात्मक तत्वो का पाश्चात्य आधुनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य मे पुनरूद्धार किया गया है । स्वामी विवेकानन्द ने **अद्वैत वेदान्त** के '**सर्वखलु इदं ब्रह्म**' इस भावात्मक सिद्धात पर जोर दिया, न कि '**नेह नानास्ति किंचन**' आदि निषेधात्मक पक्ष पर । इसी कारण और कुछ ईसाई धर्म के सुन्दर उपदेशो का भी ध्यान रखते हुए उन्होने 'नर–नारायण' की कल्पना को सामने रखते हुए दुखी मानव की सेवा को ही ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूजा तथा मोक्ष का साधन माना है । '**अयंमात्मा ब्रह्म**' का उद्घोष कर उन्होने निराश और हताश देशवासियो के हृदय मे साहस और आत्मविश्वास की दिव्य प्रेरणा दी । उन्होने भगवान बुद्ध की करूणा और अद्वैत की सर्वोन्मुक्ति की उदात्त भावना का समन्वय किया ताकि दुखी मानवता का दुख भी दूर हो और कोई यह नही समझे कि मुक्ति अकेले–अकेले हो सकती है । अन्ततोगत्वा एक ही ब्रह्म मे सब व्याप्त है । इस प्रकार उन्होने कहा – "मैं ऐसा धर्म चाहता हूँ जो हमे आत्म–विश्वास, राष्ट्र को स्वाभिमान तथा दुखी और दरिद्र लोगो के दुखो को दूर करने की शक्ति प्रदान करे। यदि आप ईश्वर को ढूँढना चाहते है तो फिर मानव की सेवा करे ।"[1]

---

1 आत्म–कथा

इसी प्रकार रोमाँ रोला ने भी गाँधीजी के विषय मे कहा था -- "इसी सत्य का आधार लेकर उन्होने अपनी तमाम इच्छाओ और आकाक्षाओ, राग-द्वेष, बुद्धि और विश्वास, ज्ञान और कर्म को मानव की निरन्तर सेवा मे लगाकर अपने-आपको शून्य मे विलीन कर देने की महान् साधना की थी ।"[1]

चीन, जापान और कोरिया आदि देशो मे व्याप्त महायान बौद्ध धर्म के अन्तर्गत भगवान बुद्ध की करूणा ही मानो स्वामी विवेकानन्द की वाणी मे मुखर हो उठी । **बोधिसत्व की भाँति उन्होंने उद्घोषित किया** – "अच्छा हो, मै बार-बार जन्म लेकर हजारो दुख सहता रहूँ । हमे केवल उस भगवान की पूजा करने का अवसर मिले, जिनमे सभी जीवात्माओ का निवास है और जो सचमुच सभी जातियो के सभी दुखियो, दरिद्रो और दुष्टो के भगवान है ।"[2] उन्होने फिर कहा – "भूखे भजन न होंहि भुआला ।"

स्वामी विवेकानन्द के तर्कपूर्ण व्याख्यानो और लेखो ने धार्मिक तथा राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ सच्चे अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का आविर्भाव किया । इसकी अन्तिम परिणति, परतन्त्रता से हमारी मुक्ति मे हुई । आज भी उनके शिष्य सम्पूर्ण देश मे शिक्षा के प्रचार और प्रसार, धार्मिक सुधार एव दुखियो और रोगियो की सहायता के कामो मे निरन्तर लगे हुए है । उन्होने अमेरिका और यूरोप मे भी अनेक मठ स्थापित किये ।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने भी उपनिषद्, बौद्धधर्म, और मध्ययुगीन वैष्णव-कवियो की शिक्षाओ से प्रेरणा लेकर ससार-विमुख पलायनवाद के बदले रचनात्मक समाज सेवा का आदर्श रखा । विश्वविख्यात नोबुल-पुरस्कार से सम्मानित अपनी गीताजलि मे उन्होने स्पष्ट रूप से बताया कि पीडित और पद दलित तथा अकिचन लोगो के बीच ही भगवान का निवास रहता है –

---

1 महात्मा गाँधी -- जीवन और दर्शन – रोमाँ रोला – पृष्ठ-102

2 आत्म-कथा

"अवनत कर दो देव । मुझे मुम अपने मजु चरण-तल मे ।
वही तुम्हारे चरण पीठ है, वही तुम्हारे पद्म चरण ।
जहाँ उपेक्षित और पतित जन, रोते महा अकिंचन ।।"[1]

मुक्ति के विषय मे भी उन्होने कहा है -

वैराग्य-साधन मे मिले जो, मुक्ति वह मेरी नही ।
जग-प्रेम-बन्धन मे मिलेगी, मुक्ति रे मेरी नही ।।[2]

रवीन्द्र नाथ ठाकुर की दृष्टि मे मानव वही है जहाँ असीम, अपनी असीमता का त्याग किये बिना ससीम बन जाता है - सीमा मे तुम असीम भरते निज स्वर मुझमे तेरा प्रकाश होता भास्वर । यही सत्ता का सारतत्व है और समाज का मूल्य भी इसी मे है। कवि ह्रीटमैन की भाँति रवीन्द्र नाथ भी यही सोचते है कि इस विश्व मे ही मानव-व्यक्तित्व केन्द्रित है । यही मनुष्य धीरे-धीरे अपने को असीम मे विलीन करने के लिए मैत्री, सेवा, प्रकृति-प्रेम और सर्जनात्मक कलाओ की साधना आदि के, द्वारा अपने व्यक्तित्व का विस्तार करता रहता है । इसीलिये उन्होने शान्तिनिकेतन में विश्वभारती नाम से एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय एव सेवा-सस्थान की स्थापना । **'जन-गण-मन-अधिनायक'** शीर्षक उनका गीत स्वतत्र भारत का राष्ट्रगीत बन गया ।

आधुनिक भारतीय जीवन और मानव-प्रकृति की पृष्ठभूमि को अच्छी तरह समझने के लिए सामान्य रूप से प्राची और विशेष रूप से भारत के विषय मे परम्परागत अत्यत सरलीकृत विचारो को त्याग देना होगा । प्राय, नैराश्यवाद और मायावाद, नेतिनेति और निर्वाण के सन्दर्भ मे ही उसको समझा जाता रहा है । सचमुच ये धारणाये जीर्ण-शीर्ण अर्द्धसत्य हैं । इनके द्वारा भारतीय जीवन-धारा को समझने मे अधिक खतरा है । अज्ञान

---

1 र0ना0 टैगोर - गीताजलि

2 र0ना0 टैगोर - गीताजलि

और असत्य से भी उतना खतरा नही है । इस प्रकार के व्यक्ति भारतीय विचारधारा के उन गतिशील और सर्जनात्मक तत्व को भूल जाते है जिन्होने हमारे राष्ट्र को विश्व की बहुत बडी शक्ति और उसके निहित स्वार्थो के विरूद्ध कठोर और सुदीर्घ सग्राम करने तथा दासता के बधनो को तोडकर स्वतत्र होने की प्रेरणा दी ।

गाँधीजी ने आधुनिक भारत के नये सर्जनात्मक विचारो को अपने चितन मे स्थान दिया । उन्ही के अनुरूप अपने जीवन को ढाला और उन्हे सामाजिक एव राजनीतिक रूप भी प्रदान किया । इन सभी प्रक्रियाओ और उनके प्रायोगिक अनुभवो ने उनसे अपने नवीन जीवन-दर्शन का सूत्रपात करवाया, जिसने अत मे भारतवासियो को सदियो की दासता से मुक्ति दिलायी ।

नर-नारायण की उनकी यह कल्पना इस बात को पुष्ट करती हे कि उन्हे मानव के सकल्प-स्वातत्र्य, तर्क, अतर्विवेक और बधुत्व की भावना मे विश्वास या । मनुष्य स्वय अपने भाग्य का विधाता है । यदि वह अपनी बुद्धि का ठीक से प्रयोग करता है और अपने अतर्विवेक या अतरात्मा की आवाज सुनकर अपने जीवन का निर्धारण करता हुआ अपने भाई-बाधवो के साथ प्रेमपूर्वक रहता है तो फिर उसे इसी पृथ्वी पर ईश्वर का साक्षात्कार हो जायेगा ।

प्रत्येक व्यक्ति अपने भौतिक और मानसिक गुणो एव उपलब्धियो की दृष्टि से सचमुच विचित्र ही है । आज किसी व्यक्ति का जो भी रूप है वह उसके अतीत के चितन, भावना, वाणी और व्यवहार का ही फल है । इन्ही विभिन्न आभ्यतरिक एव वाह्य क्रियाओ के द्वारा मानव अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है । उसका प्रत्येक कर्म अपने आप मे चाहे जितना भी क्षुद्र और महत्वहीन प्रतीत होता हो, किन्तु समग्र रूप से वही उसके शरीर और स्वास्थ्य, चरित्र और उसकी सम्पूर्ण नियति को गभीर रूप से प्रभावित करता है । कहा जाता है - 'मनुष्य अपने भाग्य का स्वय निर्माता है ।' किन्तु, अपना भाग्य-निर्माण

करने के लिए भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने चरित्र–वैशिष्ट्य को समझना होगा । वह सत्य का अनादर तथा अतरात्मा की उपेक्षा कर पाशिवक वासनाओ का शिकार बनकर अपने को गर्त मे गिरा सकता है और स्वय मानव से पशु हो जा सकता है, किन्तु यदि वह इसके विपरीत आचरण करता है तो वह धीरे–धीरे मानव से देव बन जाता है । फिर, उसके प्रेम, अच्छाई और आनद आदि दिव्य गुणो का अन्त नही लगता । अपने जीवन और उपदेशो के द्वारा गीता की तरह गॉधीजी भी यह कहना चाहते है –

उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बधुरात्मैव रिपुरात्मन ।।[1]

इसी प्रकार भगवान बुद्ध ने भी मनुष्य के पुरूषार्थ को ललकारा है –

अन्ताहि अन्तनो नाथो को हि नाथो पारो सिया ।
अन्तना हि सुदन्तेन नाथ लभति दुलभ ।।[2]

इसीलिये बुद्ध ने आदेश दिया – 'अप्प दीपो भव ।' इसी को भगवान् ईसा मसीह ने अपने उपदेश मे बताया – 'अपना प्रकाश स्वयं बनो ।'

पाशिवक जीवन से मनुष्य यदि ऊपर उठा है तो यह पाशिवक प्रवृत्तियो पर उसी के आत्मसयम का प्रभाव है । **अपनी आत्मकथा में** बापू लिखते है – "पशु स्वभाव से आत्मसयम नही जानता । मनुष्य इसीलिये मनुष्य है कि वह आत्मसयम कर सकता है ।"[3] मानव–सभ्यता का आज अस्तित्व इसलिये सभव हो सका कि हमने घृणा और स्वार्थपरता जैसी कुत्सित प्रवृत्तियों को दबाकर शुभेच्छाओ और प्रेम को पुष्पित–पल्लवित होने दिया ।

मानव की प्रगति :

जब गॉधीजी मानवीय इतिहास पर दृष्टिपात करते है तो दार्शनिक की तरह

---

1 गीता, 6/5
2 धम्यपद, 1/60
3 आत्म–कथा

दूर–दृष्टि रखकर समग्र रूप से ही इस पर विचार करते है । इस प्रकार वे पूर्णत आश्वस्त है कि मानवीय सभ्यता निरतर प्रगति के पथ पर है । इसीलिये वे **यंग इण्डिया** मे लिखते है – "मुझे विश्वास है कि मानव का समस्त पुरूषार्थ उसके अपकर्ष के लिये नही, बल्कि उत्कर्ष के लिये है । वह कुछ और नही, अज्ञात रूप से, किन्तु निश्चित रूप से विश्व मे प्रेम के नियम का प्रभाव है ।"[1]

गॉंधीजी के लिये भगवान प्रेम–रूप है । वे मानव को सदैव उन्नति के पथ पर उठाने के लिये अग्रसर है । फिर भी, गॉंधी यह मानते है कि ईश्वर ने मानव को सकल्प–स्वातत्र्य दिया है, जिसके कारण वह अपनी बुद्धि और विवेक से कभी सफल होता है कभी असफल होकर भी सफलता के लिये सबक लेता है । इसलिये गॉंधीजी सन्तुलित स्वर मे कहते है – "यदि हमे इसमे विश्वास है कि मानव धीरे–धीरे अहिंसा और प्रेम की ओर अग्रसर हुआ है तो हमे यह भी स्वीकार करना होगा कि वह इस पथ पर और भी आगे बढता जायेगा । ससार मे कोई चीज स्थिर नही है, सब गतिशील है । जहॉं उन्नति नही है, वहॉं अवनति अवश्य होगी । यही सृष्टि का नित्य नियम और चिरतन चक्र है जो हम सब लोगो पर लागू है ।"[2]

प्रगति के पथ पर अग्रसर होते रहने के लिये मानव को अपनी नैतिकता का परिष्कार करते रहना ही होगा ।

दार्शनिक विचारों पर वेदान्त का प्रभाव :

महात्मा गॉंधी के दार्शनिक विचारो की क्रमबद्ध श्रृखला मे सर्वप्रथम 'ईश्वर' प्रत्यय का स्थान आता है । महात्मा–गॉंधी के 'ईश्वर' सम्बन्धी विचारो को यदि हम देखे तो वे वैष्णव–वेदान्त से प्रभावित दिखायी पड़ते है । इनके ईश्वर–विचार पर रामानुज,

---

1 यंग इण्डिया

2 आत्म–कथा

निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ जैसे वैष्णव दार्शनिको का प्रभाव पडा । महात्मा गाँधी ने ईश्वर को सगुण और साकार मानकर उनमे ऐश्वर्य के गुणो का आरोपण किया । इनके ये विचार स्पष्ट रूप से रामानुज, निम्बार्क वल्लभ तथा मध्व सदृश वेदान्तियो से प्रभावित है । ईश्वर के सम्बन्ध मे गाँधी की ही तरह रामानुज ने भी अपना विचार प्रकट किया था तथा शकर के निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म को न स्वीकारते हुए वे अपने दर्शन मे ब्रह्म या ईश्वर को सगुण तथा साकार रूप मे स्वीकार किया ।

यदि हम जगत सम्बन्धी विचारो का अध्ययन करते है तो वहाँ भी हमे दृष्टि-गोचर होता है कि गाँधी की जगत सम्बन्धी व्याख्या भी वैष्णव-वेदान्ती व्याख्या की तरह ही है । जिस प्रकार से रामानुज आदि वैष्णव वेदान्तियो ने जगत् की व्याख्या करते हुए कहा कि "यह जगत् उतना ही सत्य है जितना की ब्रह्म या ईश्वर"[1], उनकी यह व्याख्या शकर द्वारा की गयी जगत् सम्बन्धी व्याख्या की पूर्ण विरोधी है जिसमे शकर ने जगत् को आभास या मिथ्या कहा है । यहाँ यदि हम देखे तो "गाँधी ने भी जगत् को पूर्ण सत्य माना है तथा ईश्वर को जगत् का स्रष्टा स्वीकार किया है उनकी यह व्याख्या रामानुज सदृश वेदान्तियो से मिलती है ।"[2]

जिस प्रकार सभी वैष्णव वेदान्तियो ने भगवद्-भक्ति तथा ईश-शरणागति से प्राप्त भगवान की अनुकम्पा ही एक मात्र मोक्ष का साधन माना, उसी प्रकार महात्मा गाँधी भी मानव मुक्ति एव उसकी पूर्णता के लिये केवल ईश्वर की अनुकम्पा और शरणागति को ही अनिवार्य मानते थे । उनका कथन है कि "पूर्णता या मोक्ष केवल ईश्वर की कृपा से ही सम्भव है । उनकी कृपा के समक्ष अपने को सम्पूर्ण रूप से समर्पित किये बिना सयम और नियम भी सम्भव नहीं है ।"[3] यह कथन स्पष्ट रूप से वैष्णव-वेदान्त से मिलता है ।

---

1 श्री भाष्य रामानुज

2 आत्म--कथा

3 आत्म-कथा

यदि हम उनके दार्शनिक विचारो के अध्ययन मे आगे बढते है तो दखते है कि वे एक साथ वेदान्त की दो शाखाओ अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद दोनो का समर्थन करते है यह उनके इस कथन से स्पष्ट होता है जो कि उन्होने अपने एक मित्र द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध मे कहा था – "यद्यपि मै अद्वैतवादी हूँ, फिर भी मै द्वैतवाद का समर्थन कर सकता हूँ । ससार सदा परिवर्तनशील है, इसलिये इसका स्थायी अस्तित्व नही है और यह मिथ्या है । किन्तु, सदैव परिवर्तनशील होते हुए भी इसका अस्तित्व है, इसलिये इसे एक साथ यथार्थ और अयथार्थ मानकर हमे कोई आपत्ति नही है ।"[1] गाँधी का यह विचार वैष्णव मत के प्रतिपादक निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत सिद्धान्त के सदृश है । क्योकि निम्बार्क ने विश्व की एकता और विविधता मे समन्वय का प्रयास किया है तथा अपने सिद्धान्त को 'भेदाभेद' या 'द्वैताद्वैत' का नाम दिया है ।

शकर के मतानुयायी की तरह वे कभी–कभी सगुण और साकार ईश्वर का खण्डन करते हुये प्रतीत होते है परन्तु यदि ध्यान से देखा जाये तो यह स्पष्ट होता है कि वे ईश्वर के अवतार की सम्भावना को स्वीकार कर उसके सगुण और साकार तत्व को ग्रहण करते है । अपनी पुस्तक मे लिखते है कि "ईश्वर सगुण और साकार नही है । मनुष्य रूप मे पृथ्वी पर ईश्वर के समय–समय पर अवतार का अर्थ केवल यही हो सकता है कि ऐसा अवतारी पुरूष केवल ईश्वर के समीप रहता है ।" जहाँ तक ईश्वर के व्यक्तित्व का प्रश्न है यदि व्यक्तित्व से 'आत्म–चेतना' और 'सकल्प' दोनो का बोध होता है तो इस अर्थ मे गाँधी ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते है । क्योकि उन्होने ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जगत्–स्रष्टा और न्यायपालक कहा है । इस प्रकार यदि हम इनके उपरोक्त विचार को देखें तो वे वैष्णव–वेदान्त के काफी नजदीक दिखायी देते हैं ।

यह ठीक है कि गत शताब्दी के अन्त से ही पाश्चात्य जगत् शकराचार्य के अद्वैत की ओर अधिक आकृष्ट हुआ, और यही विचारधारा है, जिसका आधुनिक सन्दर्भ

---

1 यंग इण्डिया – 21 जनवरी, 1926

मे प्रचार और प्रसार यूरोप और अमेरिका के देशो मे भारत के वेदान्त शिरोमणि स्वामी विवेकानन्द ने किया था । इसी कारण इसको भारत के अग्रेजी दाँ लोगो के बीच कुछ विशेष प्रतिष्ठा भी मिली । यह बहुत सम्भव है कि गाँधीजी पर देश म फैले हुए अद्वैत–वेदान्त के लोक–प्रचलित विचारो का भी प्रभाव हो । इसलिये कभी–कभी वे अद्वैत की भाषा बोलते है । जो भी हो, इतना तो है ही कि अद्वैत का सस्कार किसी न किसी रूप मे उनके मानस पटल पर अकित था । उनकी आस्तिक अभिवृत्ति एव उसके ईश्वरवादी दृष्टिकोण ने उनके विचारो को और उनके व्यवहारिक जीवन को प्रभावित किया था ।

गाँधीजी का यह कथन कि "मै ईश्वर को सर्जनशील मानता भी हूँ और नही भी मानता । जैन–दृष्टि से विचार करने पर मै ईश्वर की सर्जनशीलता का प्रश्न ही नही उठने दूगा, किन्तु रामनुज के दृष्टिकोण से मै उसे स्वीकार करता हूँ । असल बात तो यह है कि हम अज्ञात और अज्ञेय ब्रह्म को जानना चाहते है और इसलिये हमारी वाणी असमर्थ हो जाती है और आत्म–विरोधपूर्ण जैसी लगती है । इसलिये वेदो मे ब्रह्म को "नेति–नेति" कहा गया है । "वह एक है, फिर भी अनेक है, वह अणु से भी सूक्ष्म है किन्तु आकाश से भी महान् है ।"[1] स्पष्ट रूप से वेदान्त से प्रभावित है ।

यदि हम महात्मा गाँधी के ईश्वर सम्बन्धी विचार पर दृष्टि डालते है तो हमे यह दृष्टिगत होता है कि गाँधी का ईश्वर के सम्बन्ध मे यह कथन कि ज्ञान ही ईश्वर है और ईश्वर का ज्ञान हमारी आत्मा में स्थित ईश्वर के ही समान है । ससार के अनेक आध्यात्मिक विचारको तथा लेखको की भाँति गाँधी भी ईश्वर को ज्ञान, प्रेम, अन्तर्विवेक और तर्क बुद्धि मे अभिव्यक्त अन्तरात्मा मानते है, इसलिये उन्होने ईश्वर को कभी सत्य, कभी प्रेम और कभी अन्तर्विवेक माना है । गाँधी का यह विचार अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक शकर के ब्रह्म विषयक विचार से पूर्णत· मेल खाता है जिसमे शंकर ने ब्रह्म को 'सत्य ज्ञान अनन्तम्' कहा है । जिस प्रकार शकर अपने ब्रह्म को सत्य मानते है उसी प्रकार

---

1 यग इण्डिया -- 21 जनवरी, 1926 ई0

गाँधी भी अपन 'सत्य' को 'ईश्वर' के समान मानत हुए यह उद्घोषणा करत है कि 'सत्य ही ईश्वर' है और 'ईश्वर ही सत्य है' यह कथन 'ईश्वर' और 'सत्य' की एकाकारता का ज्ञान दिलाता है।

गाँधीजी का कथन है कि सत्य, शिवम्, तथा सुन्दरम् मे कोई भेद नही है। यह इसलिये कि उनके अनुसार ईश्वर इन तीनो का त्रयी रूप है। इसी बात को यदि हम आत्मसात् दृष्टि से समझना चाहे तो हमे यह मानना होगा कि गाँधीजी इसक माध्यम से हमारे मानसिक जीवन की त्रयी, चितन, भावना और इच्छा का सामञ्जस्य करना चाहते है। समग्र मानसिक जीवन के लिये हम तीनो मे से किसी की उपेक्षा नहीं कर सकते। या हमे यह कहना चाहिये कि हमारा समग्र व्यक्तित्व और मानस सत्य, शिवम्, सुन्दरम् से अलग नही बल्कि समग्र रूप से एक साथ प्रभावित होता है। इस प्रकार यदि हम देखे तो गाँधी की ईश्वर सम्बन्धी व्याख्या वेदान्त के ब्रह्म या ईश्वर के सदृश ही है।

यद्यपि गाँधीजी स्वय को अद्वैतवादी कहते है किन्तु वे सही अर्थों मे शकर अद्वैत के अनुयायी नही कहे जा सकते, क्योंकि ससार को बिल्कुल माया नही मानते है। अद्वैतवाद से उनका तात्पर्य सामान्य रूप से अद्वैत सिद्धान्त की प्रतिष्ठता करनी है। अद्वैत शब्द को इस देश मे भारी प्रतिष्ठा मिली है और कभी-कभी तो प्रखर द्वैतवादी मध्वाचार्य के दर्शन को भी उनके अनुयायियो ने 'स्वतन्त्र अद्वैत', रामानुज के दर्शन को 'विशिष्टा द्वैत', बल्लभ के सिद्धान्त को 'शुद्धा द्वैत' तथा निम्बार्क के सिद्धान्त को 'द्वैताद्वैत' की सज्ञा दे दी है। गाँधीजी भी इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए अपनी जगत् व्याख्या प्रस्तुत करते है।

जीव और ब्रह्म सम्बन्धी गाँधीजी के विचार शाकर मत की अपेक्षा वैष्णव वेदान्त के अधिक समीप है। वे वैष्णव वेदान्तियो की तरह ईश्वर को बार-बार प्रभु और आदर्श-पुरूष तथा भक्त को ईश्वर का दास कहते है। जीव को वे ईश्वर का अश मानते

है । कभी-कभी तो जीव मात्र को ही ईश्वर का अवतार कहते है । वेदान्त स प्रभाव का सबसे बडा प्रमाण उनकी सबसे प्रसिद्ध उक्ति से स्पष्ट होता है जो कि निम्न है –

"आदम खुदा नही, लेकिन खुदा के
नूर से आदम जुदा नही ।"

यहाँ भी एक प्रकार से हम ईश्वर और जीव के बीच एक प्रकार का भेदाभेद सम्बन्ध का दर्शन करते है । इसको वैष्णव मत के वेदान्तीगण ने अनेक रूपो मे स्वीकार किया है । गाँधीजी ईश्वर और जीव की कल्पना को गतिशील और जहाँ तक हो सके नभ्य ही रखना चाहते है और इसीलिये वे ईश्वर को शक्ति-स्वरूप प्राण रूप आदि मानते हुए उनके विभिन्न अवतारो को भी स्वीकार कर लेते है ।

जीव के सम्बन्ध मे उन्होने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि इस जगत् मे जीव की वास्तविक सत्ता है और ईश्वर सभी जीवो का आधार है । उन्होने सभी जीवो को एक-दूसरे से अविच्छेध रूप मे बाँध रखा है । गाँधी का जीव के सम्बन्ध मे यह विचार वेदान्त के जीव विचार का प्रतिरूप ही लगता है । अत वे वेदान्त से प्रभावित थे ।

इस प्रकार यदि हम महात्मा गाँधी के दार्शनिक विचारो पर अद्योपान्त दृष्टि डालते है तो हम देखते है कि उनके चाहे जगत् सम्बन्धी विचार हो, ईश्वर सम्बन्धी या जीव या ब्रह्म की एकाकारता सम्बन्धी सभी विचार वेदान्त-दर्शन से पूर्ण रूप से प्रभावित है । चाहे वे अद्वैत-वेदान्त से हो या वैष्णव-वेदान्त की चार शाखाओ से । इस प्रकार महात्मा गाँधी वेदान्त से पूर्ण रूप से प्रभावित थे ।

xxxxxxxx

तृतीय-अध्याय

महात्मा गाँधी के राजनीतिक विचार
तथा
उस पर वेदान्त का प्रभाव

महात्मा-गाँधी के राजनीतिक विचार

गाँधीजी राजनीतिक क्षेत्र के एक विश्वविख्यात नेता हो गये । किन्तु, उनकी राजनैतिक जडे नैतिकता एवम् आध्यात्मिकता मे ही थी । मानवता के लिये अदम्य प्रेम और सम्पूर्ण जीवन को समग्र रूप से देखने के कारण ही उन्हे राजनीति मे आना पडा ताकि तीस करोड दुखी देखवासियो का दासता के बन्धनो से मुक्त कर सके । इसलिये उनके लिये राजनीतिक कार्य भी नर रूप नारायण की ही सेवा का रूप था । इसके बिना व स्वय भी मुक्ति नही पा सकते थे और न भगवान का साक्षात्कार ही कर सकते थे। उन्होने इसी को स्पष्ट करते हुये लिखा है – "ईश्वर--साक्षात्कार के लिये मै अपना बडे से बडा बलिदान भी दे सकता हूँ । मेरी सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक और सेवा सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियाँ उसी एक लक्ष्य की ओर अभिमुख है । मुझे यह अनुभूति हो चुकी है कि भगवान् दुखियो के बीच मे ही रहते है, इसलिये शोषित और सत्रस्त व्यक्तियो के लिये मेरे हृदय मे इतनी करूणा है । चूँकि मै राजनीति मे हिस्सा लिये बिना इस प्रकार की सेवा नही कर सकता, इसलिये मै उनके लिये इस राजनीति में हूँ । इस तरह राजनीति के माध्यम से मै दुखी भारत के लिये और उसके द्वारा विश्व मानवता के लिये सघर्षरत हूँ ।"[1]

राजनीति के क्षेत्र मे बहुधा लोग नैतिकता की बातो को स्थान नही देते है । राजनीतिक छदम् व्यवहार मे छल कूटनीति और कपटनीति सर्वोपरि है । धोखेबाजी या धूर्तता तथा साम, दाम, दण्ड और भेद आदि के द्वारा किसी प्रकार सफलता प्राप्त करना राजनीति मे बिल्कुल क्षम्य माना जाता है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धो मे तो नैतिकता की प्राय बलि दे दी जाती है मानो नैतिक नियमो का क्षेत्र केवल हमारा अपना समाज और राष्ट्र ही है । इसीलिये देश के दुश्मनो का सफाया करना राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की दृष्टि से अत्यत ही प्रसशनीय कार्य माना जाता रहा है ।

गाँधीजी के जीवन का महान् उद्देश्य राजनीति की नैतिकता को प्रतिष्ठित कर

---

1 यग–इण्डिया – 11 9 94

उसमे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना था । अपने व्यक्तिगत एव सार्वजनिक जीवन के अनेक प्रयोगो और अनुभवो के आधार पर गाँधीजी इस बात से और भी अधिक आश्वस्त हो गये थे कि आज मानव-सम्बन्धो के विभिन्न क्षेत्रो की अनेकानेक समस्याओ का स्थायी और प्रभावकारी समाधान तभी हो सकता है, जब हम अपने जीवन मे सत्य और अहिसा का पालन करे ।

राजनीति के क्षेत्र मे गाँधीजी ने बुद्ध और ईसा के उपदेशो का प्रयोग किया - "प्रेम से क्रोध को, सत्य से झूठ को और कष्ट सहन के द्वारा हिसा को जीतो ।" इसका आधार मानव और मानव-स्वभाव की नैसर्गिक साधुता मे विश्वास ही हो सकता है । बुरे से बुरे मनुष्य के अन्तस्तल मे परमात्मा का निवास है । सत्य के सधान मे सबका विवेक जाग्रत होता है और सबके अन्दर की करूणा भी प्रेम और करूणा से ही जाग्रत होती है। इसलिये व्यक्तिगत या सार्वजनिक जीवन मे किसी व्यक्ति पर हम जितना ही अधिक अविश्वास करते है, तुम उसे और साथ-साथ अपने को उतना ही अधिक पतित बना देते है । अविश्वास और भी अधिक अविश्वास और छ्ल को बढाता है, घृणा और हिसा से हिसा पैदा होती है । सब जगह अनैतिकता और दुख बढने लग जाते है और यह ससार नरक बन जाता है । दूसरी तरह यदि हम व्यक्ति की अन्तर्निहित साधुता मे विश्वास रखे तो फिर इससे निष्कपटता और सत्याचरण की प्रेरणा मिलती है । प्रेम घृणा और हिसा की भावना दूर करता है । यद्यपि हम सदाचरण के इस पूर्ण आदर्श पर नही पहुँच सकते, फिर भी हम इस आदर्श का अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन मे जितना ही अधिक पालन करेगे, हमारा जीवन सघर्ष से उतना ही अधिक दूर और आनदपूर्ण होगा ।

गाँधीजी ने टालस्टाय की प्रेरणा से इस जीवन पद्धति का आरम्भ सर्वप्रथम दक्षिण अफ्रीका मे किया था । आत्मबल या प्रेमबल का सहारा लेकर टालस्टाय ने बुराई के बदले भलाई का विचार रखा । इसी आधार पर गाँधीजी ने ट्रासवाल मे एशियावासियो के प्रति रग-भेद के काले कानून के खिलाफ अहिसक प्रतिकार का आन्दोलन किया और आखिर

इसके फलस्वरूप काला कानून वापस हुआ । गाँधीजी ने भारतवर्ष मे भी सरकार द्वारा बनाये गये दोषपूर्ण बडे और छोटे कानूनो, सामाजिक रूढियो और परम्पराओ के खिलाफ सघर्षो मे यही पद्धति अपनायी और अत मे लगातार तीस वर्षो के इसी अहिंसक प्रतिकार के बाद ब्रिटिश शासन को भी उखाड फेका ।

अपने अनुभवो से गाँधीजी ने यह देखा कि इस प्रकार आन्दोलनो मे कई प्रकार के गम्भीर खतरे भी है । कभी-कभी इनसे अत्यन्त अवाछनीय परिणाम भी उत्पन्न हो जाते है । उनके लिये अपेक्षित मानसिक और नैतिक तैयारियॉं की जानी चाहिये । उनके सफल प्रयोग के लिये समाज के वातावरण का अनुकूल होना आवश्यक है । इस सम्बन्ध मे उनका सुदीर्घ अनुभव वास्तव मे आत्मबल या सत्यबल के साथ ही निरतर प्रयोग पर निर्भर था । अपनी अपूर्णताओ और भूलो को बार-बार स्वीकार कर उन्होने अपनी सहज नम्रता का परिचय दिया । उन्होने बार-बार इस वैज्ञानिक युग की दुहाई देकर इस बात की माग की कि अहिसक प्रतिकार-पद्धति को सभी क्षेत्रो मे व्यवहार योग्य बनाने के लिये अपेक्षित प्रयोग किये जाये । उनका यह रोना था कि विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यो और सत्य के सधान मे इतना अधिक समय, साधन और शक्ति लगायी, पर आत्मबल, सत्यबल और प्रेमबल के व्यापक एव कल्याणकारी क्षेत्रों को उसने उपेक्षित ही छोड दिया । इसके बिना आज मानवता का अस्तित्व, सुख और शान्ति सब खतरे मे है ।

सत्याग्रह – एक राजनैतिक उपकरण के रूप में :

अहिंसक प्रतिकार को ही पीछे 'सत्याग्रह' कहा गया है । 'सत्याग्रह' सस्कृत के दो शब्द 'सत्य' और 'आग्रह' के योग से बना है । 'अहिसक प्रतिकार' से दुर्बलता का बोध होता था और उसमे प्रतिपक्षी के लिये अंदर मे घृणा का भाव भी ध्वनित था। इस कारण अत मे उससे हिसा भी फूट पडती थी । किन्तु 'सत्याग्रह' से किसी भी त्याग के मूल्य पर सत्य और न्याय पर आरूढ़ रहने की शक्ति और सकल्प का बोध होता है। सत्य-प्राप्ति का मार्ग भी प्रेम ही है । इसलिये गाँधीजी ने 'सत्याग्रह' मे यदि एक ओर

'सत्य' का आग्रह रखा तो दूसरी ओर 'प्रेम' की शक्ति भी । 'अहिसक प्रतिकार से निषेधात्मक बोध होता है किन्तु 'सत्याग्रह' प्रेम की भावात्मक शक्ति का सूचक है ।

इसी आधारभूत सिद्धान्त के अनुसार 'सत्याग्रह' के विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न रूप हो सकते है जैसे – सविनय अवज्ञा, असहयोग, हडताल, अनशन और उपवास आदि–आदि । गाँधीजी और उनके अनुयायियो ने विभिन्न परिस्थितियो मे अन्याय के प्रतिकार के लिये प्राय इन सभी विधियो का प्रयोग किया ।

सत्याग्रही सर्वप्रथम स्वय आग्रह–युक्त होकर अपनी न्यायपूर्ण माँगो के औचित्य के विषय मे आश्वस्त हो जाये और तब अन्याय के प्रतिकार के लिसे सम्यक् साधनो का प्रयोग करे । 'सत्याग्रह' का उद्देश्य सत्य और प्रेम के द्वारा अन्यायी के हृदय का सस्पर्श कर स्वय उसको ही अन्याय के विरोध मे खडा करना है । इसलिये सबसे पहले मन, वचन और कर्म से हिंसा की भावना को निकाल कर आत्मशुद्धि की आवश्यकता है । यदि अन्यायी अहिसक आन्दोलन को समाप्त करने के लिये हिंसा पर भी उतारू हो जाता है तो भी सत्याग्रही को अपने प्राण तक न्योछावर करने के लिये तैयार रहना चाहिए ।

इसलिये इस प्रकार आन्दोलन करने के योग्य वे ही है जो सचमुच निस्वार्थ, निर्भर, आत्मसयमी और नैतिक–दृष्टि से शुद्ध है, जिन्हे मानव–प्रकृति की अन्तर्निहित साधुता मे आस्था और विश्वास है । इसके लिये सचमुच नैतिक तैयारी की आवश्यकता है । जो स्वय सच्चा, न्यायी और घृणा तथा द्वेष से मुक्त नही है वह दूसरे मे न्याय और सहानुभूति की भावना कैसे पैदा कर सकता है ? सत्याग्रह दुर्बलो का अस्त्र नही है । इसके लिये तो सत्याग्रही मे अपार साहस चाहिये जिससे वह बदले की किसी प्रकार की भावना नहीं रखते हुए संगीन और गोलियाँ खाकर या घुट–घुटकर मरने को भी हँसते–हँसते झेल सके ।

सत्याग्रह यो ही नही छोड देना चाहिए । गाँधीजी ने लिखा है "चूँकि सत्याग्रह सीधी कार्यवाही की सबसे प्रभावशाली पद्धति है, इसलिये सत्याग्रही सत्याग्रह आरम्भ करने

के पूर्व सभी अन्य उपायो को आजमा लेता है।"[1]

वह शान्त और अनुद्विग्न भाव से जनता के साथ-साथ अन्यायी के भी सामने अपनी जायज मागो को रखता है, उसके लिये तर्क देता है, उसे सोचने-समझने का मौका देता है और यदि उसके बाद भी अन्यायी अन्याय को दूर करने पर सहमत नही होता तब अत मे सत्याग्रही अहिसात्मक आन्दोलन छेडने की पूर्व सूचना देकर आन्दोलन छेडता है। वह अवसरवादिता, प्रदर्शन या झूठ-मूठ के समझौते आदि से बचता रहता है। किन्तु ज्यो ही वह प्रतिपक्षी के हृदय मे किसी प्रकार का प्रायश्चित या हृदय-परिवर्तन पाता है त्योही वह उससे सही आधार पर मेल-मिलाप के द्वारा समस्याका समाधान कर लेता है। वह अपने विरोधी को कभी अपमानित करने की कोशिश नही करता। जैसा गाँधीजी ने लिखा है "सत्याग्रही न तो अन्यायी को नीचा दिखाना चाहता है, और डराना ही चाहता है। उसका तो उद्देश्य ही है कि प्रेम से समझा-बुझाकर उसके मस्तिष्क एव हृदय को आश्वस्त कर उसका हृदय परिवर्तन किया जाये।"[2]

लेकिन प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि अन्तरात्मा की विवेक-शक्ति को जानने के लिये विवेक, तर्क, बहस-मुबाहसा और सभा आदि को ही पर्याप्त माना जाये तो फिर सत्याग्रही द्वारा कष्ट-सहन आदि की क्या जरूरत है ? इसका उत्तर देते हुए गाँधीजी कहते है कि "जहाँ व्यक्ति दीर्घकाल से किसी पूर्वाग्रह का शिकार रहता है वहाँ उसको दूर करने के लिये केवल विवेक शक्ति को ही जगाना काफी नही होता। इसके सिवा कष्ट सहन की प्रक्रिया भी शुरू होनी चाहिये क्योंकि कष्ट-सहन ही हमारे विवेक को जगाता है।"[3] फिर कष्ट-सहन के द्वारा सत्याग्रही आत्म-परीक्षा भी करता है। यदि उसकी माग न्यायोचित नही है तो फिर उसके लिये वह कष्ट-सहन करना नही चाहेगा।

---

1 यग-इण्डिया (20 10 1927)

2 हरिजन - 25.3 1939

3 यग-इण्डिया - 19 3.1925

दूसरी ओर उसका यह कष्ट-सहन उसके विरोधी के हृदय पर भी यह प्रभाव डालता है कि उसकी माँग मे जरूर कुछ सत्यता है, जिस पर ध्यान देना आवश्यक है ।

अहिंसक आन्दोलन के लाभ :

प्रेम का रास्ता अपनाने से बहुत से लाभ है । जहाँ प्रत्येक हिंसात्मक सघर्ष अपने पीछे कटुता और प्रतिहिसा की सम्भावनाए छोड जाता है, वहाँ सत्याग्रह की पद्धति से कटुता दूर हो जाती है और परस्पर प्रेम का विस्तार होता है । इससे प्रतिपक्षी की आत्मा निष्कलुष हो जाती है । सत्याग्रही भी नैतिक-दृष्टि से अधिक सशक्त होता है । गाँधीजी यह चाहते थे कि किसी भी अन्याय का प्रतिकार करने के पहले सत्याग्रही को आत्म-विश्लेषण के द्वारा अपनी भी दुर्बलताओ, भूलो एव दोषो का पता लगाना चाहिये जिनके कारण अन्यायी को अन्याय करने का अवसर मिलता है और वे हमारे विरोधी बन जाते है । हर व्यक्ति स्वय अपना ही मित्र और शत्रु है । ऐसा गीता ने भी कहा है --

उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ध्यात्यनो बधुरात्मैव रिपुरात्मन ।।

-- गीता, 6/5

जब वह अपने दोषो को दूर कर अदर से अपने को सुधारने का प्रयास करता है तो सचमुच वह अपना भी भला करता है और साथ-साथ दूसरे का भी ।

अहिंसात्मक सघर्ष का सबसे बडा लाभ यह है कि यह विरोधी को एक विचित्र दुविधा मे डाल देता है । यदि अहिसात्मक आन्दोलन को लाठी, गोली और हत्या द्वारा दबाने का प्रयास किया जाता है तो अन्यायी तटस्थ राष्ट्रो की सहानुभूति खो देता है । इसके विपरीत उनकी सहानुभूति सहज ही पीडित और दलित व्यक्तियों के पक्ष मे जाकर उसे सबल करती है । दूसरी ओर, यदि अहिंसात्मक आन्दोलन नही दबाया जाता है तो फिर आन्दोलन दिनो-दिन शक्तिशाली होता जाता है । दक्षिण अफ्रीका एव भारत मे सत्याग्रह के कई प्रयोगो मे गाँधीजी को यह अच्छी तरह देखने को मिला ।

गाँधीजी ने सभी प्रकार के अन्याय, दलन और दमन के विरूद्ध आत्मशुद्धि पूर्ण अहिसात्मक सघर्ष का प्रयोग किया । भारत मे अग्रेजी राज्य को दूर करने के राष्ट्रव्यापी राजनीतिक सघर्ष मे भी उन्होने सत्याग्रह को दाखिल किया । वे अपने दुखी और दलित देशवासियो से बराबर अपील किया करते थे कि सर्वप्रथम वे अपने और देश के प्रमुख सामाजिक, आर्थिक और नैतिक बुराइयो पर आत्म-निरीक्षण के भाव से विचार करे । फिर उनको दूर करे, क्योकि उन्होने जनता को अशक्त और असमर्थ बना दिया है जिसके कारण वे शोषण एव उत्पीडन को दबकर सहते रहे । यही कारण था कि भारत मे गाँधीजी के दीर्घकालीन नेतृत्व मे राजनीतिक आन्दोलन के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और राजनीतिक पुनरूत्थान का भी कार्य चला । राजनीतिक आन्दोलन के साथ-साथ रचनात्मक कार्यक्रम भी चलते रहे । गाँधीजी का यह बराबर कहना था कि "शोषण हमारे ही पापो का फल है । यदि हम अपने पापो को दूर कर दे तो शोषण भी समाप्त हो जायेगा ।" अग्रेजो को दोष देने के बदले अच्छा हो, हम अपनी बुराइयो को भी देखे और अपनी आत्मशुद्धि करे । अग्रेजो को नही, अग्रेजी राज्य को समाप्त करें ।

अपने सघर्ष मे गाँधीजी स्वतन्त्रता के सिपाहियो को अहिसात्मक ढग से प्रशिक्षण देने मे जितना ही अधिक सफल होते गये और आन्दोलनकारियों ने हिंसात्मक प्रहारो का जितना अधिक अहिसात्मक ढंग से मुकाबला किया और कष्ट सहन की जितनी अपूर्व क्षमता दिखायी, जनता ने भी इस आन्दोलन मे सम्मिलित होने मे उतनी अधिक दिलचस्पी दिखायी। कभी-कभी गाँधीजी ने कुछ चुने अनुयायियों के द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू किया। जब वे पकडकर जेल भेजे गये या जब उन पर लाठियाँ और गोलियाँ चलायी गयी तो उनकी सहानुभूति मे सैकडो-हजारों आदमियों ने आगे बढ़कर उनके स्थान ग्रहण किये । अहिंसात्मक ढ़ग से कष्ट सहन का यही चमत्कार है । जो नजरबद एवं कैद कर लिये गये उनकी जगह पर आन्दोलन मे काम करने के लिये हजारों लोग आगे आये और अत मे सारा देश ही आन्दोलन के प्रति अभिमुख हो गया । फिर तो इस महान् असतोष को दबाने के लिये बदूकें, गोलियाँ, पुलिस, सिपाही भी कम पडने लगे । आन्दोलन को दबाने

की अपनी हिंसात्मक पद्धति से उत्पन्न इस विषय परिणाम स शासक स्वय परेशान होकर समझौता करने पर विवश हो गये । गाँधीजी सम्मानपूर्ण समझौते के लिये हमेशा तैयार रहा करते थे, क्योकि उनको व्यक्तिगत मान-अपमान की परवाह न थी और न इन्हे किसी के प्रति राग-द्वेष ही था । विरोधियो का हृदय-परिवर्तन ही तो उनका लक्ष्य था और जब भी वह इसका किसी प्रकार का सकेत पाते थे तो फिर झट समझौते के लिये तैयार हो जाते थे, यद्यपि उन्हे इसमे कभी-कभी धोखा भी हो जाता था ।उनका यह दृढ-विश्वास था कि धोखा देने वाला अत मे धोखा खायेगा । लम्बे और बहुरगे अनुभवो से भरा हुआ उनका जीवन इस सत्य को समर्थन देता है ।

जब कभी गाँधीजी ने देखा कि उनके अनुयायीगण आन्दोलन मे उत्तेजना एव प्रतिक्रिया मे हिसा की ओर अग्रसर हो रहे है तो उन्होने उनसे अनुशासन एव आत्म-सयम रखवाया । यदि आवश्यकता पडी तो वे आन्दोलन को एकायक बीच मे ही स्थगित कर शात होकर आत्म-विश्लेषण करने लगते थे कि उनमे और उनके मुख्य सहयोगियो मे कहाँ दोष है । कभी-कभी वे इसी के लिये आत्मशुद्धि की दृष्टि से लम्बे से लम्बा उपवास करके अपने अनुयायियो के हृदय मे गलत एव हिसात्मक कार्यों के लिये प्रायश्चित की भावना जगाते थे ।

इस नैतिक सघर्ष मे आत्मबल के साथ-साथ ईश्वर मे अखण्ड आस्था, मानव की साधुता मे विश्वास तथा सत्य और अहिसा पर आरूढ रहने का संकल्प आवश्यक है । दृढ-सकल्प से भरा हुआ एक साधारण व्यक्ति भी इस आन्दोलन का एक आदर्श सिपाही और नेता हो सकता है । इसमें संख्या बल का महत्व नही है । संख्या बल से तो कायर लोग प्रसन्न होते है । वीर लोग तो स्वय अकेले जूझने मे गौरव का अनुभव करते है । विश्व के महान् क्रिया-कलाप और सर्वश्रेष्ठ कला-कृतियाँ कुछ ही लोगो ने एकात साधना के द्वारा की है । बुद्ध, ईसा मसीह जरथ्रुष्ट्र, हजरत मुहम्मद आदि ने अकेले ही अकेले काम किया । इसलिये गाँधीजी मानते थे कि यदि हमारा साध्य शुद्ध है और वह सत्य और

करूणा पर आधारित है तो फिर धीरे-धीरे इसकी शक्ति बढेगी और इससे महान् से महान् सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो का श्री गणेश होगा ।

लेकिन यह अवश्य याद रखना होगा कि सत्य अहिंसा के द्वारा हृदय-परिवर्तन का मार्ग अत्यन्त कठिन है । इसमे अधिक समय लग सकता है, क्योकि यह तो जीवन के शाश्वत मूल्यो को लेकर क्रान्ति करता है । जब हम अपने ऊँचे आदर्शों के अनुरूप अपने आचरण से काफी समय तक जन-सेवा करते रहेगे तो इससे आत्म-विश्वास प्रकट होगा । साथ-साथ यह दूसरो को भी आकर्षित और प्रभावित करेगा । फिर सच्चा नेतृत्व तो स्वय प्रकट होता है । जो स्वय उत्कटता के साथ पूर्णता के लिये प्रयास कर रहा है वह तो अदृश्य एव अलक्ष्य रूप से अपने चारो ओर दूसरो को प्रभावित करता रहेगा और सबो के हृदय का सम्राट भी बनेगा । रवीन्द्रनाथ ने ठीक ही कहा है कि गाँधीजी ने स्वयम् स्फूर्ति 'आत्म त्याग' के द्वारा ही जनता का हृदय जीत लिया ।

राजनीतिक – स्वतन्त्रता :

भारतवर्ष की राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना गाँधीजी का तात्कालिक लक्ष्य था । किन्तु इसको वे आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का साधन मानते थे । इसके लिये उन्होने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया जिसका उल्लेख हमे भारत के प्राचीन दार्शनिक साहित्य, जैसे – उपनिषद् आदि मे मिलता है । स्वराज्य मे 'स्व' और 'राज्य' दो शब्दो का योग है, जिसका अर्थ है अपने ऊपर शासन करना । असल मे इससे वाह्य-स्वतन्त्रता का कम और आभ्यान्तरिक स्वतन्त्रता का अधिक बोध होता है ।

हमारा जीवन और हमारा सत्य, दोनो ही अखण्ड और अविभाज्य है । जीवन एकागी होकर विकसित नही होता । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक जीवन एक दूसरे से अत्यन्त सम्बन्धित एव अन्योन्याश्रित है । इसलिये जीवन का सर्वागीण विकास आवश्यक है । आध्यात्मिक विकास के लिये सत्य का साक्षात्कार आवश्यक है । इसके लिये मानव जीवन के सभी अगों का समग्र विकास चाहिये । गाँधीजी ने इसको बहुत सुन्दर

ढग से समझाया है – "जो सर्वव्यापी सत्य है, वह आशिक रूप मे भी सत्य है । इस दृष्टि से आध्यात्मिक स्वतन्त्रता या 'स्वराज्य' की कल्पना मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता या भौतिक स्वतन्त्रता अन्तर्निहित है ।"[1] भारतवर्ष मे राजनीतिक दासता के कारण आर्थिक शोषण एव दरिद्रता सीमा से बाहर हो गयी थी । इसी कारण सामाजिक और नैतिक पतन भी हुआ । इस तरह एक दुष्चक्र का निर्माण हो गया और आध्यात्मिक दुरवस्था सीमा पर पहुँच गयी । राजनीतिक पुनरूत्थान के बिना राष्ट्रीय जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी कोई सुधार सम्भव नही है । इसलिये स्वतन्त्रता के अभाव मे देश के लिये आध्यात्मिक उन्नति का भी मार्ग अवरूद्ध हो गया ।

गाँधीजी के लिये राजनीतिक स्वतन्त्रता आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का ही एक अविभाज्य अग था । इसलिये वे धर्म की कूप मडूकता मे विश्वास नही करते थे । गाँधीजी ने लिखा है – "मै यह नही मानता कि जीवन से अलग आध्यात्म का कोई अपना दूसरा क्षेत्र होता है, बल्कि मै तो यह मानता हूँ कि हमारे दैनिक व्यवहारो और क्रिया–कलापो मे ही आध्यात्म की अभिव्यक्ति होती है । इसलिये इससे हमारा आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन प्रभावित होता है ।"[2]

गाँधीजी जीवन भर इसी ससार मे सेवा के माध्यम से ईश्वर–साक्षात्कार का भगीरथ प्रयत्न करते रहे । उन्होंने लिखा है कि – "ईश्वर–साक्षात्कार ही मानव का अतिम लक्ष्य है । यह जन सेवा से ही सम्भव है ।मै मानवता से अलग ईश्वर की कल्पना नही कर सकता ।"[3]

चूँकि गाँधीजी ने अपनी राजनीतिक प्रवृत्तियो को अपने महान् उद्देश्यो की प्राप्ति का ही साधन माना था, इसलिये उन्हे भीषण से भीषण राजनीतिक सघर्षो के बीच भी

---

1 यंग–इण्डिया – 20 3 1930

2 यंग–इण्डिया – 3 9 1925

3 हरिजन – 29 8 1936

कभी निराशा नही हुई और न कभी उन्होने अपना गन्तव्य ही भुलाया । इस उदारतापूर्ण दूर-दृष्टि के कारण उन्हे कभी कोई चिंता या उद्विग्नता नही हुई । उनकी निर्णय शक्ति भी बिल्कुल ठीक रही । उनका सहज हास्य विनोद भी सदैव उनके साथ बना रहा । आक्सफोर्ड के एक अग्रेज प्रोफेसर, जिन्होने गाँधीजी को इग्लैण्ड मे विख्यात अग्रेज राजनीतिज्ञो के बीच तीन घण्टे तक कठोर उत्तर प्रति उत्तर मे सलग्न देखा था, लिखा है - "मुझे यह पूर्ण विश्वास हो गया कि सुकरात के बाद इस प्रकार का अभूतपूर्व आत्म-सयम और शाति रखने वाला गाँधीजी के सिवा ससार मे कोई दूसरा व्यक्ति हुआ ही नही ।"

<u>राज्य और व्यक्ति</u> :

गाँधीजी ने यह माना कि व्यक्ति अधिकारो और मूल्यों का केन्द्र है । राज्य और सरकारो के अस्तित्व एव अधिकार भी व्यक्ति पर ही निर्भर है । इसलिये अनुकूल कानून लागू करना, शोषण मिटाना, सुरक्षा, शान्ति एव प्रगति का मार्ग प्रशस्ति कर व्यक्ति का सर्वागीण विकास करना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिये । राज्य को हमेशा जनता के सेवक की तरह व्यवहार करना चाहिये, स्वामी की तरह नही ।

जनता को भी स्मरण रखना चाहिये कि बिना उसके सहयोग के राज्य का एक क्षण के लिये भी अस्तित्व सम्भव नही है । इस विचार के दोनो पक्ष है । जनता को जन कल्याण सम्बन्धी राज्य के सारे कामो मे मगलकारी कानूनो के सरक्षण एव परिपालन तथा अपनी अतिम आहुति चढाकर भी देश की रक्षा मे पूर्णरूपेण सहयोग देना चाहिये । वस्तुत देखा जाये तो इन सभी कर्तव्यों के पालन से व्यक्ति का अपना ही कल्याण होता है । जब व्यक्ति दूसरे के लिये अपनी सुख-सुविधा का त्याग करता है तो वह अपना ही व्यक्तित्व विकसित करता है । इस प्रकार वह स्वार्थ से परार्थ और फिर अत मे परमार्थ तक पहुँच जाता है ।

किन्तु जब सरकार स्वेच्छाकारी और अन्यायी होकर जनता का शोषण करती हो और उसकी प्रगति को रोकती हो तो फिर प्रत्येक व्यक्ति का यह पवित्र कर्तव्य हो

जाता है कि वह इस प्रकार के प्रशासन से असहयोग करे । उस ओर जनता नैतिक दबाव भी डाले ताकि उसमे सुधार हो सके । इसी प्रकार के अहिसात्मक असहयोग के द्वारा गाँधीजी ने भारत मे अग्रेजी राज्य को अस्त-व्यस्त कर दिया था ।

राजनीतिक चेतना की धारा हमेशा तेज रखनी होगी और इसका उचित ध्यान रखना होगा कि राज्य और सरकार को सही रास्ते पर रखने के लिये हमे कब और किस क्षेत्र मे उससे सहयोग और असहयोग करना चाहिये । सतत् सावधानी ही स्वतन्त्रता की कीमत है । गाँधीजी ने भी कहा था - "स्वराज्य हमारी अपनी अदरूनी ताकत और कठिन से कठिन सघर्षो से सामना करने की हमारी क्षमता पर निर्भर करता है । जिस स्वराज्य की प्राप्ति एव सरक्षण के लिये हम निरतर बलिदान करने को उद्यत नही रहेगे, वह स्वराज्य भी बेकार है ।"[1]

गाँधीजी इसको अच्छी तरह समझते थे कि विदेशी सरकार की तरह अपनी राष्ट्रीय सरकार भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता एव विकास के मार्ग मे बाधक बन जा सकती है । उन्होने देखा था कि कितने तथाकथित स्वतन्त्र देशो मे निरकुश राजसत्ता एव स्वेच्छाचारी शासको की मर्जी पर वहाँ के नागरिको का दलन और दमन किया गया । इसलिये राजसत्ता को इतना निरकुश एव स्वेच्छाचारी नही बनाना चाहते थे कि व्यक्ति का नैतिक विकास और उसका पुरूषार्थ ही विलुप्त हो जाये । इसलिये गाँधीजी कहते है - "व्यक्ति ही सर्वोपरि है । मै तो राज्य-शक्ति की बुद्धि के प्रत्येक चरण को भयावह मानता हूँ । ऊपर से तो इसमे हमे दीखता है कि राज्य हमारे शोषण का अत कर रहा है, किन्तु इसमे व्यक्तित्व का ही विनाश हो जाता है । इसेमै मानवता की सबसे बडी क्षति मानता हूँ ।"[2] विदेशी हमले से रक्षा तथा आन्तरिक व्यवस्था एव शाति के लिये आज राज्य को निश्चित रूप से सेना और सैनिक साज--सज्जा की जरूरत है । किन्तु हमारे लिये वह सबसे बडे दुर्भाग्य

---

1 विद गाँधीजी इन सिलोन - महादेव देसाई - मद्रास, 1926, पृष्ठ-35

2 मार्डन रिव्यू, अक्टूबर 53, पृष्ठ-413

का दिन होगा, जब हम सारा दायित्व राज्य पर छाडकर चुचचाप निष्क्रिय बैठ रहग । राज्य पर इस प्रकार पूर्ण रूपेण आश्रित रहने के कारण ही स्वेच्छाचारिता और तानाशाही का विकास होता जाता है । व्यक्ति को अपने को अनुशासित करने के लिये सदैव पुरूषार्थ-- वान रहकर परस्पर सहयोग करना चाहिये ताकि धीरे-धीरे वे स्वय इतने अनुशासित हो जाये कि बिना किसी वाह्य दबाव के स्वेच्छापूर्वक अपना कर्तव्य पालन करते रहे । इस प्रकार राज्य भी एक मगलकारी सस्था का रूप धारण कर लेगा और उसको भी कम से कम बल प्रयोग की आवश्यकता होगी । इस आदर्श स्थिति का वर्णन करते हुए गाँधी जी कहते है – "यह स्थिति एक प्रकार की स्वस्थ और प्रबुद्ध अराजकता है । इसमे प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होता है । वह स्वय इस प्रकार व्यवहार करता है कि कभी भी अपने पडोसियो के लिये बाधक नही बनता । किन्तु यह आदर्श जीवन मे कभी चरितार्थ नही होता इसलिये ऐसी स्थिति मे थोरो की वह उक्ति ही मान्य है कि "जो कम-से-कम शासन करती है, वही सर्वोत्तम सरकार है ।"[1]

आर्थिक सगठन के लिये भी गाँधी जी व्यक्तिगत उद्योगो को महत्व देते थ । इसलिये वे चाहते थे कि जनकल्याण के लिये चलने वाले व्यक्तिगत उद्योगो और व्यापारो को भरपूर प्रोत्साहन दिया जाये । उन्होने व्यक्तिगत उद्योगो के द्वारा शोषण पर राज्य के द्वारा रोकथाम की आवश्यकता महसूस की और राज्य द्वारा कुछ चुने हुए उद्योगो को हाथ मे लिये जाने और उन्हे व्यवस्थित ढग से चलाने का भी समर्थन किया । किन्तु वे राज्य के द्वारा वैयक्तिक सम्पत्ति का बलात् अपहरण किये जाने के पक्ष मे नही थ । वे इस सम्बन्ध मे कहते है – "यह मेरा पक्का विश्वास है कि यदि राज्य हिसा के द्वारा पूजीवाद को समाप्त करेगा तो वह भी हिंसा के चक्र मे ही पड जायेगा और फिर अहिसक शक्ति का विकास कभी नही कर पायेगा ।"[2]

इसलिये मेरे विचार से राज्य के हाथों में सम्पूर्ण सत्ता के केन्द्रीकरण के बदले

---

1 यग-इण्डिया (2 6.1935)

2 मार्डन रिव्यू – अक्टूबर – 53

ट्रस्टीशिप के विचार का विस्तार किया जाये, क्योंकि मेरे मन को यह लगता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण जो हिसा उत्पन्न होगी वह राज्य की हिसा से कम ही भयकर और खतरनाक होगी । फिर भी यदि राज्य के हाथो मे स्वामित्व अनिवार्य ही हो जाये तो मै चाहूँगा कि इसका क्षेत्र अधिक-से-अधिक सीमित रखा जाये ।

सम्पत्ति और सत्ता की भूख पर नैतिक अनुशासन, आत्म-सयम और आत्म त्याग के बिना व्यक्ति और समाज की प्रगति असम्भव है । राज्य की कठोर दण्ड शक्ति के बल पर समाज मे भ्रष्टाचार रोकने के प्रयत्नो के फलस्वरूप न जाने कितने बुरे परिणाम हुये है । राज्य ने व्यक्ति के पूर्ण-विकास के मार्ग मे न जाने कितनी बाधाए उपस्थित की है ।

<u>सच्चे प्रजातन्त्र का अर्थ</u> :

सच्चा प्रजातन्त्र कभी भी हिंसा और दण्ड शक्ति पर आश्रित नही रह सकता। व्यक्ति के पूर्ण और स्वतन्त्र विकास के लिये जनतान्त्रिक समाज को परस्पर सहयोग और सद्भाव, प्रेम और विश्वास पर आधारित रहना चाहिये । मानवता का विकास इन्ही सिद्धान्तों के आधार पर आज तक हुआ है और आगे भी होगा । परस्पर प्रेम के कारण ही मानव ने सबो के मगल मे अपना भी मगल माना है । जब तक मानव इस आदर्श का पालन करता रहेगा तब तक व्यक्ति और व्यक्ति, समूह और समूह तथा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच शान्ति बनी रहेगी । प्रेम और अहिंसा को ही हमारे समाज के छोटे से छोटे परिवार जैसे – और विश्व-सस्था जैसे बडे से बडे सभी सगठनो का आधार होना चाहिये । यदि समाज की कोई भी इकाई हिसा, घृणा, लोभ आदि अनैतिक पापो का शिकार बनेगी तो फिर इसका जहर समूचे समाज मे फैलकर सघर्ष, युद्ध और सत्यानाश ला देगा । फिर तो मानव की सुख-शाति भी छिन जायेगी ।

प्रजातन्त्र का विकास किसी बाहरी दबाव से नही बल्कि जन अभिक्रम से होता है । गाँधीजी ने तो कहा ही था – प्रजातन्त्र हिसा के आधार पर टिक नही सकता ।

इसलिये इस पर किसी प्रकार का बाहरी दबाव हरगिज नही हो । यह तो स्वय स्फूर्त होना चाहिये ।" इसलिये प्रजातन्त्र की पहली शर्त है कि व्यक्ति अच्छा होना चाहिये । अहिसा आदि नैतिकता के जिन पॉच नियमो का हमने पहले उल्लेख किया है, वास्तव मे व व्यक्ति के उन्नयन एव आदर्श प्रजातन्त्र के विकास, दोनो मे सहायक होगे ।

आदर्श राज–व्यवस्था :

गॉधीजी ने जीवनभर राष्ट्र की मुक्ति के लिये सग्राम किया । यद्यपि उन्होने आदर्श राज–व्यवस्था के विषय मे समय–समय पर अपने विचार प्रकट किये है, फिर भी उन्होने इसके सम्बन्ध मे बहुत विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता नही समझी । सचमुच वे तो इसमे विश्वास करते थे कि यदि साधन सुन्दर होगा तो साध्य भी सुन्दर होगा ही । इसलिये देश की परतन्त्रता से मुक्ति दिलाने के लिये अहिंसात्मक साधन की वे बराबर खोज करते रहे । स्वतन्त्र होने पर प्रजातान्त्रिक ढग से लोग अपनी शासन–पद्धति के विषय मे तय करेगे । इसलिये गॉधीजी ने प्रारम्भ मे ही राज्य का एक निश्चित स्वरूप बताकर जनता के मानस को बोझिल नही करना चाहा । हॉं, उन्होने इस सम्बन्ध मे जो कुछ सकेत किये थे, उनका उल्लेख किया जा सकता है ।

उस आदर्श राज–व्यवस्था को किस नाम से पुकारा जाये, गॉधीजी इस बात के लिये विशेष उत्सुक नही थे, क्योंकि आधुनिक समय मे इससे भ्रान्ति होने का अधिक डर था । इसलिये कभी–कभी प्राचीनकाल के राजा राम एव प्रियदर्शी अशोक के आदर्शों की सराहना करते थे । असल मे वे आदर्श राज्य–व्यवस्था के लिये तीन शर्तें रखते है –

(क) जिसमे जनता कस सर्वांगीण विकास हो, जैसे – रामराज्य ।

(ख) जहॉं शासन अहिंसा और प्रेम पर चलता हो, जैसे – अशोक का राज्य ।

(ग) जहॉं एक वर्ग या दूसरा वर्ग देश का शोषण नही करता हो ।

किन्तु इस बात को गॉधीजी अच्छी तरह् समझते थे कि जनहित पर आधारित

राजतन्त्र के दिन भी अब लद चुके है । इसलिये वे भारत के लिये 'स्वराज्य' चाहते थे, जिसमे "देश के बहुसख्यक बालिग स्त्री–पुरूषो की राय से ही सरकार चले ।" वे यह भी नही चाहते थे कि जनता निष्क्रिय होकर भेड़ की भाँति राज्य के निर्देशा का केवल अनुगमन करती रहे, बल्कि वह अपनी प्रकृति एव प्रतिभा के अनुरूप अपने भाग्य के निर्धारण मे सक्रिय एव सचेष्ट रहे । स्वराज्य का अर्थ ही होता है "विशुद्ध नैतिक शक्ति पर आधारित जनता का प्रभुता–सम्पन्न राज्य ।"

यद्यपि जनप्रिय शासन का व्यावहारिक रूप जब हमारे सामने आयेगा तो हमे बहुमत पर चलना ही होगा, किन्तु गाँधीजी बहुमत की सभावित निरकुशता के विषय म सदैव जागरूक रहते थे । इसलिये उन्होने लिखा है कि "बहुमत का सामान्यत सकीर्ण अर्थ किया जाता है कि हमेशा और हर छोटे–बडे मामलो मे अल्पमत को बहुमत के आगे झुक जाना चाहिये । किन्तु उचित–अनुचित को ध्यान मे बिना रखे बहुसख्यक के आगे हमेशा घुटने टेक देना वस्तुत दासता का परिचायक है । प्रजातन्त्र मे व्यक्ति का विचार–स्वातन्त्र्य बहुत ऊँचा स्थान रखता है । हमे आवश्यकता इस बात की है कि हमारा शासन अल्पसख्यकों को दबाकर नहीं, बल्कि उन्हे समझा–बुझाकर अपने साथ के चलने मे समर्थ हो ।"[1]

गाँधीजी की यह चेतावनी अत्यत सामयिक थी । स्वस्थ प्रजातन्त्र के लिये यह आवश्यक है कि बहुसख्यको को इतना उदार होना चाहिये कि वे सहानुभूति के साथ अल्पसख्यक के हितो पर ध्यान दे और कभी उनके हितो की उपेक्षा नही होने दे । अल्पसख्यको को भी इतनी शक्ति महसूस होनी चाहिये कि वे अपनी उचित आकाक्षाओ और अभिलाषाओ की पूर्ति के लिये केवल आवाज ही बुलन्द नही करे बल्कि उसके लिये बहिसात्मक ढग से सघर्ष भी करे ।

---

1 यग–इण्डिया

किन्तु गाँधीजी यह अच्छी तरह समझते थे कि आधुनिक युग मे इस प्रकार क प्रतिनिधि सत्तात्मक सरकारो के विशालकाय जगल मे अल्पमत आदि की उपेक्षा सभव है। इसलिये वे लोक-स्वराज्य या ग्राम-स्वराज्य के पक्ष मे थे । इसमे गाँव अपनी दैनिक आवश्यकताओ के मामलो मे प्राय स्वावलम्बी हुआ करेगे । हर काम सहयोग के आधार पर चलेगा । ग्राम-समाज और सगठन का भी आधार अहिंसा और सत्याग्रह ही होगा । स्वय गाँव के लोग अपनी सुरक्षा करेगे । "गाँव का शासन प्रतिवर्ष गाँव के सभी वयस्क स्त्री-पुरूषो की राय से चुने हुये पाँच पचो की राय से होगा । गाँव की यही पचायत गाँव के लिये एक साथ न्यायपालिका, कार्यपालिका एव ससद का कार्य करेगी ।"[1]

इस प्रकार के ग्रामीण प्रजातन्त्र मे व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के आधार पर आदर्श प्रजातन्त्र की स्थापना हो सकती है । व्यक्ति ही अपनी सरकार का आधार-स्तम्भ होता है । अहिसा और प्रेम का ही वहाँ राज्य रहता है । हर व्यक्ति की मूल आवश्यकताए पूरी हो जाया करेगी । हर व्यक्ति सादा जीवन और उच्च-विचार के महान् आदर्श का पालन करते हुये अपने-अपने आध्यात्मिक उन्नयन के लिये प्रयत्नशील रहेगा । कोई गाँव सम्पत्ति का अनावश्यक सग्रह भी नही करेगा और न किसी दूसरे को लाभ और लोभ की दृष्टि से देखेगा । फलस्वरूप, सभी ग्रामवासी अधिक सुख और शाति से रहेगे और अपना आध्यात्मिक विकास भी करते रहेगे ।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता :

गाँधीजी आदर्श मानव के विकास के लिये इस प्रकार स्वावलम्बी ग्रामीण प्रजातन्त्रों की स्थापना के बडे ही कायल थे । दूसरी ओर वे यह भी चाहते थे कि इन गाँवो मे परस्पर आर्थिक और सास्कृतिक सहयोग भी हो । असल मे उनको विश्वास था कि जब व्यक्ति इस प्रकार के अनुकूल ग्रामीण वातावरण में रहकर सामाजिकता और नैतिकता की भावना

---

1 हरिजन – 26 6 42

सीख लेगा तो उसमे सहज ही सम्पूर्ण–मानवता के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जायगा । फिर उसको राष्ट्रीय तथा भौगोलिक सीमाए भी नही बॉध सकेंगी । कोई भी सस्कृति एक दूसरे से बिल्कुल पृथक रहकर नही जी सकती । इसलिये सास्कृतिक विकास के लिये भी गॉधीजी सस्कृति समन्वय चाहते थे । उन्होने इसका उदाहरण देते हुये लिखा है "पश्चिम से हमे जो एक अच्छी चीज अवश्य ग्रहण करनी चाहिये वह है जन–स्वास्थ्य का विज्ञान । मेरी देशभक्ति सकुचित नही है और इसमे किसी दूसरे के लिये किसी प्रकार वैर--भाव नही है । इसलिये यद्यपि मै पाश्चात्य भौतिकवाद से बराबर सशकित रहता हूँ । फिर भी, पश्चिमी सभ्यता मे जो अच्छाइयॉं है, उनका मै सदैव स्वागत करता हूँ ।"[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि गॉधीजी की देश–भक्ति एव राष्ट्रीयता मे कट्टरता नही थी । असल मे भारतीय मानवता राष्ट्रीयता की आधारभूत एकता और समता पर आधारित है । इसलिये यहॉं की राष्ट्रीयता सदैव ही अन्तर्राष्ट्रीयतोन्मुख है । मानव–प्रेम ने ही गॉधीजी को राष्ट्र--प्रेम और विश्व–प्रेम सिखाया । इसलिये उन्होने भारत की स्वतन्त्रता के लिये कभी भी किसी जाति या वर्ग के प्रति घृणा नही रखी । सबो के लिये सत्य, प्रेम और करूणा का ही पाठ बताया ।

इसलिये गॉधीजी लिखते है कि "पूर्ण–स्वराज्य की मेरी कल्पना का अर्थ यह नही है कि हमारा देश सबसे अलग रहकर स्वतन्त्रता का उपभोग करे, बल्कि विश्व के राष्ट्रमण्डल मे उनका एक दूसरे से स्वस्थ एव सम्मानपूर्ण सहयोग रहे । हमारी स्वतन्त्रता किसी दूसरे राष्ट्र के लिये कोई खतरा नही बनेगी । जिस प्रकार हम अपना शोषण नही होने देगे, ठीक उसी प्रकार हम किसी दूसरे का शोषण भी नहीं करेंगे । अत हम अपने स्वराज्य के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की सेवा करेंगे ।"[2]

---

1 यंग–इण्डिया – 26 12 24

2. यग–इण्डिया – 26 3.39

अग्रेजी शासन से कठोर सघर्ष करते हुये और कारावास-दण्ड आदि की यातनाए सहते हुये भी गाँधीजी सेवा और त्याग के द्वारा सम्पूर्ण मानवता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर विश्व के क्रमिक आध्यात्मिक उन्नयन का स्वप्न देखते रहे । इसलिये उन्होने स्पष्ट लिखा है – "मै भारत को स्वतन्त्र एव शक्तिशाली इसलिये देखना चाहता हूँ कि यह विश्व-कल्याण के लिये निस्वार्थ त्याग करने को उद्यत रहे । जिस प्रकार स्वतन्त्र व्यक्ति परिवार के हित के लिये, अपने व्यक्तिगत हित का बलिदान करता है, उसी प्रकार परिवार जनपद के लिये, जनपद सम्पूर्ण जिले के लिये, जिला सम्पूर्ण प्रान्त के लिये, प्रान्त सम्पूर्ण देश के लिये और देश सम्पूर्ण विश्व के लिये अपना बलिदान करे ।"[1]

इस प्रकार गाँधीजी के लिये रणनीति भी धर्म एव आध्यात्म के समान पवित्र बन गयी । राष्ट्रीयता विश्वप्रेम का साधन बन गयी ।

महात्मा गाँधी के राजनीतिक विचारों पर वेदान्त का प्रभाव :

यदि हम महात्मा गाँधी के राजनीतिक विचारो पर दृष्टि डालते है तो देखते है कि गाँधी के राजनीति से सम्बन्धित विचार भी वेदान्त से प्रभावित हुए बिना नही रह सके है । महात्मा गाँधी का राजनीतिक क्रिया-कलाप भी नर रूप नारायण की सेवा ही था गाँधीजी का इस प्रकार राजनीतिक क्रिया-कलाप वेदान्त के प्रभाव के फलस्वरूप ही उत्पन्न हुआ ।

गाँधीजी ने राजनीति के क्षेत्र में नैतिकता को सबसे अधिक महत्व प्रदान किया। गाँधीजी के जीवन का महान् उद्देश्य राजनीति की नैतिकता को प्रतिष्ठित कर उसमे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना था । अपने व्यक्तिगत एव सार्वजनिक जीवन मे गाँधीजी ने इसको यथाशक्ति स्थापित किया । राजनीति के क्षेत्र में गाँधीजी ने बुद्ध एव ईसा के उपदेशो का प्रयोग करते

---

1 यग-इण्डिया – 17.9 25

हुये कहा कि 'प्रेम से क्रोध को, सत्य से झूठ को और कष्ट सहन के द्वारा हिसा को जीतो । गाँधीजी का कथन है, कि बुरे से बुरे मनुष्य के अन्तस्तल मे परमात्मा का निवास है । सत्य के सधान मे सबका विवेक जाग्रत होता है और सबके अन्दर की करूणा भी प्रेम और करूणा से ही जाग्रत होती है ।

महात्मा गाँधी ने राजनैतिक उपकरण के रूप मे 'सत्याग्रह' नामक शस्त्र का प्रयोग किया । 'अहिसक प्रतिकार' को ही 'सत्याग्रह' कहा गया है । 'सत्य' प्राप्ति का मार्ग प्रेम ही है । इसलिये गाँधीजी ने 'सत्याग्रह' मे यदि एक ओर 'सत्य' का आग्रह रखा तो दूसरी ओर 'प्रेम' की शक्ति भी सत्याग्रह प्रेम की भावात्मक शक्ति का सूचक है ।

गाँधीजी ने भारत मे अग्रेजी राज्य को दूर करने के लिये भी अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रयोग किया तथा देशवासियो से अपील किया करते थे कि सर्वप्रथम वे अपने और देश के प्रमुख सामाजिक, आर्थिक और नैतिक बुराईयो पर आत्म–निरीक्षण के भाव से विचार करे फिर उसको दूर करे । गाँधीजी के द्वारा शुरू किये गये इस नैतिक सघर्ष मे आत्मबल के साथ–साथ ईश्वर मे अखण्ड आस्था, मानव की साधुता मे विश्वास तथा सत्य और अहिंसा पर आरूढ रहने का सकल्प आवश्यक है । इनका कथन है कि सकल्प शक्ति से भरा हुआ प्रत्येक व्यक्ति इस आन्दोलन का सच्चा सिपाही हो सकता है । आत्म त्याग के द्वारा ही आत्मबल की प्राप्ति होती है । इसीलिये गाँधी जी मानते थे कि हमारा साध्य शुद्ध है और वह सत्य और करूणा पर आधारित है तो फिर धीरे–धीरे इसकी शक्ति बढेगी और इससे महान् से महान् सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो का श्री गणेश होगा ।

भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना गाँधीजी का तात्कालिक लक्ष्य था किन्तु इस स्वतन्त्रता को वे आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का साधन मानते थे । इस आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के लिये उन्होने स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया जैसा कि प्राचीन दार्शनिक साहित्य

उपनिषद् आदि मे मिलता है । इसका अर्थ वे अपने ऊपर शासन करना लगाते थे आत्मनियत्रण करना या आत्मलाभ के द्वारा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना । गाँधीजी का कथन था कि इस स्वतन्त्रता मे वाह्य स्वतन्त्रता का कम बल्कि आभ्यान्तरिक स्वतत्रता का अधिक बोध होता है । यह वेदात्त का ही प्रभाव है ।

गाँधीजी का विचार था कि हमारा जीवन और सत्य दोनो ही अखण्ड और अविभाज्य है । जीवन एकागी होकर विकसित नही होता । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक जीवन एक दूसरे से अत्यन्त सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित है । इसलिये जीवन का सर्वागीण विकास आवश्यक है । आध्यात्मिक विकास के लिये मानव-जीवन के सभी अगो का समग्र विकास चाहिये । गाँधीजी ने इसको समझाते हुए कहा है कि "जो सर्वव्यापी सत्य है, वह आशिक रूप मे भी सत्य है इस दृष्टि से आध्यात्मिक स्वतन्त्रता या 'स्वराज्य' की कल्पना मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता या भौतिक स्वतन्त्रता अन्तर्निहित है ।" गाँधीजी के इस कथन को यदि हम देखे तो हमे यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि गाँधीजी पर वैष्णव-वेदान्त का पूरा प्रभाव है । जिस प्रकार विशिष्टा द्वैत वेदान्ती रामानुज का कथन है कि ईश्वर अश है जीव उसका अशी उसी प्रकार गाँधीजी भी कहते है जो सर्वव्यापी सत्य है वह आशिक रूप मे भी सत्य है क्योंकि यह अंश भी उसी सत्य सार्वभौम सत्ता का ही है।

इस प्रकार गाँधीजी के समस्त राजनीतिक विचारो पर हमे वेदात्त का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

xxxxxxxxx

चतुर्थ-अध्याय

महात्मा गाँधी के धार्मिक विचार तथा उस पर वेदान्त का प्रभाव

महात्मा–गाँधी के धार्मिक विचार तथा उस पर वेदान्त का प्रभाव

जब भी हम गाँधी के विषय मे चर्चा करते है, तो मुख्य रूप से उनके दो विशिष्ट पहलू सामने आते है। ये दो पहलू है उनकी धार्मिक आस्था और उनकी राजनीतिक गतिविधियाँ। वे या तो एक धार्मिक सत्य के मानदण्ड के रूप मे समझे जाते है या एक सक्रिय राजनीतिक के रूप मे। इसमे सन्देह नही कि उन्होने दोनो ही भूमिकाएँ सफलतापूर्वक निभायी। उनकी कौन सी भूमिका अधिक महत्व रखती है ? यह प्रश्न बडा जटिल है। वे लगभग 50 वर्षों तक राजनीति के क्षेत्र मे डटे रहे और एक बहुत लम्बे समय तक भारतीय राजनीति के केन्द्र बिन्दु बने रहे। उनके इसी पक्ष की चर्चा अधिक हुई है और उनके इसी पक्ष के आधार पर प्राय उनका मूल्याकन भी हुआ है। एक बहुत बडी सख्या मे लोग उनके समर्थक रहे है और उनका विरोध करने वालो की भी कमी नही रही है। यदि हम इस विषय पर गहराई से विचार करें तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी राजनैतिक अवधारणाओ का मूल्याकन प्राय गलत सन्दर्भ मे हुआ है। राजनीति के परम्परा गत सिद्धान्तो के आधार पर यह मान लिया गया है कि गाँधीवादी राजनीति चाहे जितनी महान हो, अव्यवहारिक ही है। इसलिये उनके राजनीतिक विचारों का जीवन में कोई विशेष महत्व नही है। इसी तरह के विचार तब भी प्रकट किये जाते है जब उनकी धार्मिक आस्थाओ की बात आती है। प्राय यह कहा जाता है कि वे महज एक परपरावादी थे जिनके पास न तो शकर अथवा काण्ट की दार्शनिक अन्तर्दृष्टि थी न ही कोई मौलिक अवधारणा। यह भी कहा जाता है कि गाँधी धर्म और राजनीति को दो अलग–अलग पहलुओ को एक ही नजर से देखने के फलस्वरूप वे न तो पूर्णरूप से धार्मिक सन्त ही रह पाये न पूर्णरूप से राजनीतिज्ञ। ऐसी धारणा वाले लोग अक्सर यह भूल जाते है कि गाँधी मूलत. एक धार्मिक सन्त थे, किन्तु उनकी धार्मिकता जिस सन्दर्भ में प्रस्फुटित हुई थी उस सन्दर्भ की कल्पना राजनीति के बिना की ही नही जा सकती। उनकी मूलभूत आस्थाए धार्मिक थी। किन्तु राजनीति मे उनका प्रवेश एक अनिवार्य आवश्यकता। अगर वे केवल धार्मिक सन्त या केवल राजनीतिज्ञ हो जाते तो उनका दर्शन एकांगी होकर रह जाता। वे धर्म से बाहर राजनीति की बात

नही कर सकते थे और राजनीति के बिना उनका धर्म केवल कपाल-कल्पना मात्र रह जाता। दोनो भूमिकाओ को समानान्तर रूप से निभाना उनके लिये आवश्यक था, यही उन्होने किया भी। जैसा कि स्पष्ट ही है, उनकी समस्त राजनीतिक विचारधारा का आधार ही उनकी धार्मिक आस्था है। ये कौन सी आस्थाएँ थी, इनका क्या श्रोत था, और कैसे इनका प्रस्फुटन हुआ इन प्रश्नो के उत्तरो की गवेषणा अपेक्षित है।

इससे पहले कि ये आस्थाएँ क्या थी और इनका प्रस्फुटन कैसे हुआ, इन प्रश्ना के उत्तर खोजे जाये, यह आवश्यक है कि इन आस्थाओ के मूल श्रोतो की चर्चा कर ली जाये। गाँधी एक परम्परावादी वैष्णव परिवार मे पैदा हुए थे और इस परपरा का प्रभाव उनके ऊपर जीवनपर्यन्त रहा। उनके जीवन मे कुछ ऐसी बातें भी देखने को मिलती है जिनका सम्भवत कोई तार्किक आधार न हो, किन्तु उनके मूल धार्मिक सिद्धान्त दार्शनिक भूमि पर अवस्थित है और उनका शुद्ध दार्शनिक आधार भी है। इन मौलिक आस्थाओ को जान लेना आवश्यक है। गाँधी-दर्शन का मूल श्रोत वैदिक दर्शन है जिसके दो महान प्रणेता थे – शकर और रामानुज। दोनों अद्वैतवादी है किन्तु दोनो मे पारस्परिक मतभेद है। जहाँ शकर ब्रह्म-ज्ञान की अनुभूति को अनिर्वचनीय मानते है वही रामानुज उसको सहज रूप से प्राप्य और ग्राह्य मानते हैं। गाँधीजी मे शकर का प्रभाव यदा-कदा दृष्टिगोचर होता है किन्तु उनकी भावना रामानुज के अधिक निकट प्रतीत होती है। सृष्टिकर्ता अगम्य अवश्य है, किन्तु उसका आभास उसकी सृष्टि मे मिल सकता है। वह केवल सर्जनहार ही नही बल्कि पालनहार भी है और हमारी प्रार्थना उसके कानो तक पहुँच सकती है। उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता किन्तु पत्ते का हिलना उसी के अस्तित्व का प्रमाण है। ईश्वर है इसलिये हम है। वह सबका पिता है। अगर हम सच्चे हृदय से कुछ मागते है तो वह अवश्य देगा। उसी की कृपा से हमारे जीवन के सारे कार्यकलाप संचालित होते हैं। "ईशावास्थमिद सर्व – ईश्वर सब जगह है और सबमें विद्यमान है – यजुर्वेद का यह वाक्य गाँधी के धार्मिक विचारो का मूल आधार है। इस सत्य की अनुभूति का श्रोत तर्क नही, आस्था है। यही सत्य अतिम सत्य है, यही सत्य सार्वभौमिक

है और इसके बाहर निकलकर हम यथार्थ की पहचान नही कर सकते । इसी वैदिक भावना से गाँधी के सत्य सम्बन्धी विचार प्रस्फुटित हुए है ।

यद्यपि गाँधीजी ईश्वर-भक्त थे तथापि ईश्वर के नाम पर किसी अमूर्त और निराकार सत्ता के प्रति उनका कोई आकर्षण नही था । वे तो बार--बार यही कहते थे - ईश्वर हमारे अन्तकरण मे है और वह हमेशा इसको प्रभावित करता रहता है ।" ईश्वर को जीवन मे स्वीकारकरने को ही धर्म कहते है । ईश्वर को स्वीकार करने का अर्थ है कि हम अपने हृदय मे सत्य, प्रेम और विवेक को अधिक से अधिक स्थान देकर अपनी सकीर्णता, विद्वेष-भावना, अज्ञान और अविवेक तथा इनसे उत्पन्न होने वाले क्रोध, लोभ और काम आदि सारे मनावेगो का परित्याग कर दे । इसलिये, गाँधीजी के लिये "धर्म का सच्चा सार नैतिकता मे निहित है । सच्ची नैतिकता और सच्चा धर्म एक दूसरे के साथ अविच्छेद रूप से बँधे हुए है । फिर भी, "नैतिकता के लिये धर्म का वही स्थान है, जो जमीन मे बीज उगने के लिये जल का होता है ।"[1] इस उपमा से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि बिना धर्म के भी नैतिकता सम्भव है, किन्तु नैतिकता के विकास के लिये वह अत्यन्त आवश्यक है । दूसरी तरफ नैतिकता भी धर्म के लिये सहायिका होती है । इससे हमारे हृदय के विकार और कलुष दूर होते है, जिससे हमे अपने अन्तकरण मे या दूसरे व्यक्ति के हृदय मे उस परमपिता परमात्मा की अनुभूति करने मे कोई भी बाधा नहीं होती है ।"[2] इस प्रकार नैतिकता और धर्म परस्पर सहायक है ।

प्रार्थना धर्म की सारभूत अभिव्यक्ति या आत्मा है । गाँधीजी अपनी तमाम व्यस्तताओ के बावजूद प्रातकाल सूर्योदय के समय और संध्या मे सूर्यास्त के समय जहाँ भी जिस रूप मे जिस कार्य मे लगे रहते थे, उन्हे छोड़कर नियमित रूप से प्रार्थना किया करते थे । किन्तु "प्रार्थना कोई भिक्षाटन नहीं, यह तो अन्तरात्मा की पुकार है । यह तो अपनी

---

1 आत्म--कथा, पृष्ठ स0 - 305
2 आत्म-कथा, पृष्ठ स0 -- 306

दुर्बलताओ का दैनिक स्मरण है – यह आत्म–विश्लेषण और आत्म–निरीक्षण है । यहाँ आत्म–शुद्धि और अहकार निराकरण होता है । यह अपने लोगो के लिये भी आत्मपीडन सहने की हमे शक्ति प्रदान करता है ।"[1]

जीवन मे प्रत्येक सकट की अवस्था मे जब गाँधीजी को कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेना होता था, तो वे अपने आपको बिल्कुल भगवान पर छोड देते थे और उस समय केवल, मौन तथा उपवास के माध्यम से सत्य–ज्ञान और प्रेम–रूप ईश्वर को साक्षी रखते हुए अपना विश्लेषण और आत्म–परीक्षण करते हुए अन्तकरण से परमात्मा से यही प्रार्थना किया करते थे कि हे भगवान, कृपया मुझे प्रकाश दिखाइए ।[2] फिर उन्हें इससे स्फूर्ति, शक्ति और निष्ठा प्राप्त होती थी । फिर वे द्विगुणित शक्ति और प्रेम से अपने कर्तव्य–पालन मे आगे बढते थे, जिससे उनके अनुयायियो को भी उत्साह मिलता था और प्रतिपक्षियो का हृदय भी विजित होता था और वे नतमस्तक हो जाते थे । लगता था कि एक चमत्कार हो गया, जिसमे सदियों के उस बन्धन, दासता और विद्वेष की समाप्ति हो जाती थी, जिसमे भारतीयों के साथ–साथ इस पर जबरदस्ती शासन करने वाले अग्रेजो की आत्मा को भी कलुषित कर दिया था । बार–बार की बढती हुई सफलताओ ने उनमें विशेष आत्म–विश्वास जगाया ।

उन्होने अपना तन, मन सब ईश्वरार्पण कर उनकी कृपा के समक्ष अपने को शून्य मे विलीन कर दिया था । उन्होने मानव कल्याण के लिये अपने क्षुद्र स्वार्थ को कभी सामने नही आने दिया । उनके लिये मानवता की सेवा ही ईश्वर–भक्ति थी । इसी कारण वे कभी–कभी अधीर होकर कह उठते थे – मै अपने को अवश्य ही शून्य मे विलीन कर दूँगा । वे भगवान की प्रेरणा समझकर ही अपने सभी सफल और असफल कर्मो को निष्काम भाव से ईश्वरापर्ण कर देते थे । इसीलिये वे विजय के उन्माद और पराजय की निराशा

---

1. आत्म–कथा, पृष्ठ स0 – 307
2. आत्म–कथा, पृष्ठ स0 – 308

से बचते रहे, किन्तु अपने कर्म के फल से प्राय प्रसन्न ही होते थे । इसे वे परमात्मा का प्रसाद समझते हुए अपने को कृतार्थ अनुभव करते थे ।

गाँधीजी की भगवत् साधना का यही रूप था । इस जीवन–दर्शन या धर्म–भावना की पुष्टि उन्हे विभिन्न धर्मों के महान् सन्तो के उपदेशो से मिली विशेषकर भगवद् गीता से उन्हे निरन्तर मार्गदर्शन मिलता रहा । उन्होने गीता पर अपनी दृष्टि से अनासक्तियोग नामक एक छोटी सी टीका भी लिखी, जिसमे निष्काम कर्मयोग के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति की बात कही गयी है । इसकी भूमिका मे गाँधीजी ने स्पष्ट लिखा है कि – गीता ने कहा है कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् ।'[1] गीता के अनुसार मोक्ष की स्थिति परमशान्त की स्थिति है ।

गाँधीजी के अनुसार, त्याग का अर्थ ससार से पलायन नही और न मोक्ष मृत्यु के बाद की स्थिति है । सच्चा त्याग तो अनासक्त कर्मयोग है, एव सच्चा मोक्ष वस्तुत अपने क्षुद्र स्वार्थ और कलुषि मनोवेगो के बन्धनो से ही मनुष्य की मुक्ति है । वे ही हमे सताते रहते है । ईसा मसीह की तरह गाँधीजी का चरम लक्ष्य इस धरती पर स्वर्ग लाना था ।

धर्म का नानात्व :

अनेक महान् धर्म ग्रन्थो के स्वाध्याय से गाँधीजी ने यही निष्कर्ष निकाला कि प्रत्येक धर्म मे ऐसे सुन्दर–सुन्दर उपदेश है, जिनके आधार पर हम सच्चे धार्मिक जीवन का निर्माण कर सकते है । किन्तु, उन्होने यह पाया कि मूल धर्म–ग्रन्थो के जो अनके भाष्य, टीकाएँ और फिर उनके साथ प्रत्येक धर्म से जुड़े हुए कर्मकाण्ड है, उनमे कितनी ही ऐसी बाते घुस गयी है जो नैतिक दृष्टि से अवाछनीय एव युक्ति विरूद्ध भी है । इस दृष्टि से सभी धर्मों में कुछ अच्छाइयाँ भी है और कुछ बुराइयाँ भी । जहाँ तक उनके उद्गम और आदर्श के प्रश्न हैं, वे सब अच्छे है, किन्तु जहाँ उनकी विद्रूपता और कर्मकारण

---

1 आत्म–कथा, पृष्ठ – 225

के प्रश्न है, वे सचमुच बुरे है । इस लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि से इसकी अच्छाइयो को ग्रहण करना चाहिये । इसलिये धर्मग्रन्थो के परस्पर विरोधी उपदेशो से जब हमारी बुद्धि ठिठककर दिग्भ्रान्त होने लगती है तो गाँधीजी के अनुसार हमे अपने विवेक का सहारा लेना चाहिये ।

इस प्रकार धर्म व्यक्तिगत साधना और एक जीवन-दर्शन के रूप मे आता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये अपना धर्म चुन लेने को स्वतन्त्र है । जैसा गाँधीजी ने स्वय हरि , "धम्र एक अत्यन्त वैयक्तिक वस्तु है । हमे दूसरो के जीवन की श्रेष्ठ बाता का अधिकाधिक लाभ लेते हुए अपने आदर्शो के अनुसार जीवन-यापन करने का प्रयास करना चाहिये । इस प्रकार हम ईश्वर-प्राप्ति की आध्यात्मिक साधना को अधिक समृद्ध करेगे ।"[1]

इसी आधार पर उन्होने सभी धर्मो के भ्रातृत्व की कल्पना की थी । इस सम्बन्ध मे, सारांश मे उन्होने निम्नलिखित बाते व्यक्त की है –

(1) सभी धर्म सही और सच्चे है ।

(2) सभी धर्मों मे थोड़ी बहुत बुराइयाँ हैं ।

(3) सभी धर्म मेरे लिये, मेरे अपने हिन्दू धर्म के समान ही प्रिय है क्योकि सभी मानव आपस मे भाई-भाई है । इसलिये मुझे दूसरे धर्मों के प्रति भी वही आदर भाव है, जो मुझे अपने धर्म के प्रति है, इसलिये मेरे सामने धर्म-परिवर्तन का प्रश्न ही नही उठता । धार्मिक-भ्रातृत्व का यही उद्‌देश्य होना चाहिये कि किस प्रकार एक हिन्दू को अच्छा और आदर्श-हिन्दू तथा एक मुसलमान और एक ईसाई को अच्छा मुसलमान और ईसाई बनाया जाये । भगवान से दूसरो के लिये हम यह प्रार्थना नही करे हे भगवान् । जैसा तुमने मुझे पथ दिखाया है वैसा ही उसको भी दिखाओ बल्कि हम यह कहे, "भगवान् । उसे

---

1 हरिजन 28, दिसम्बर 1936

उसके सम्पूर्ण और सर्वतोमुखी विकास के लिये आवश्यक प्रेरणा और प्रकाश दो । हम केवल इतनी ही प्रार्थना करे कि चाहे जिसका जो भी धर्म हो, उसको उसी से श्रेय और सुख मिले ।"[1]

समुद्देश्यो से प्रेरित कुछ ईसाई धर्म प्रचारको को, जो भारतवासियो को ईसाई धर्म मे दीक्षित करने के लिये अत्यन्त आतुर थे, गाँधीजी ने यही सलाह दी – "हमे आप अच्छा हिन्दू, अच्छा इन्सान बनाइये ।"[2] बिना हृदय परिवर्तन के धर्म–परिवर्तन व्यर्थ है । अनेकानेक मठ, सम्प्रदाय, सघर्ष, विद्वेष, धर्माधिकरण और वर्ण–भेद आदि से जिस ईसाई धर्म का इतिहास भरा पडा हुआ है, उससे गाँधी को भला क्या प्रेरणा मिलती ? ईसाई–राष्ट्रो द्वारा आधुनिक युग मे एक के बाद एक युद्ध के आतक की पुनरावृत्ति और उसमे ईसाई धर्मपीठो तथा धर्म गुरूओ का अपने ही ईसाई धर्म–बान्धवो मे एक दूसरे का पक्ष लेकर उन्हे उत्साहित करना सचमुच गाँधीजी के लिये मृत्यु से भी अधिक बोझिल बाते थी । इसलिये उन्होने धर्मोपदेशको को सम्बोधित करते हुये कहा – "अच्छा हो, हम उपदेश देना बन्द करे और आचरण सीखे ।"[3]

सभी धर्म प्रर्वतको और आचार्यों के प्रति उन्हे काफी आदर–भाव था । गाँधीजी के अनुसार वे सभी ईश्वर के द्वारा भेजे हुए देवदूत थे । इसलिये उन्होने कभी उनकी पौराणिकता या ऐतिहासिकता पर ध्यान नही दिया । इसी प्रकार वे राम, कृष्ण एव ईसामसीह के विषय मे सोचते थे । उन्होने लिखा 5 "भगवान् केवल 1900 वर्ष पूर्व ही सूली पर नही चढे, बल्कि वे बराबर और यहाँ तक कि आज भी सूली पर चढ रहे है । सचमुच, सम्पूर्ण दुनिया और मानवता के लिये यह महान दुर्भाग्य का विषय होगा यदि हम ऐसे ईश्वर की कल्पना पर निर्भर रहे, जिनका तिरोभाव आज से दो हजार वर्ष पूर्व हो चुका है । इसलिये किसी ऐतिहासिक ईश्वर के बदले हमे ऐसे ईश्वर की कल्पना करनी चाहिये, जो आज भी हमारे भीतर विद्यमान है ।"[4]

---

1. आत्म–कथा, पृष्ठ –
2. आत्म–कथा, पृष्ठ
3 आत्म–कथा, पृष्ठ
4 आत्म–कथा, पृष्ठ स0 – 119

महात्मा गाँधी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे । उन्होने स्वय को राजनीतिक के आवरण मे रहने वाला एक धार्मिक व्यक्ति माना । उनके जीवन का मुख्य नियत्रक धर्म ही था । उनके शब्दो मे – "मेरा हृदय राजनीतिक नही बल्कि धार्मिक है । मेरा प्रत्येक शब्द जिसका उच्चारण मैने अपने सार्वजनिक जीवन मे किया है तथा मेरा प्रत्येक कार्य धार्मिक चेतना के अन्तर्गत तथा धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित था ।"[1]

गाँधीजी धर्म के क्षेत्र मे पूरी तरह प्रवृत्त रहे । इस प्रकार धर्म उनके जीवन और व्यवसाय मे अनिवार्य प्राथमिकता बन गया । किन्तु जैसा कि गाँधीजी ने हमे बताया, विश्वास और प्रतिबद्धता के रूप मे भी धर्म की जीवन मे प्राथमिकता है । दक्षिण-अफ्रीका से लौटने के कुछ समय बाद ही उन्होने अपने एक पूर्व सहयोगी कार्यकर्ता को लिखा था कि मै जितने भी धार्मिक लोगो से मिला हूँ उनमे से अधिकांश छद्मवेश मे राजनीतिज्ञ है । किन्तु मै जो राजनीतिज्ञ का वेश धारण किये हूँ, वस्तुत हृदय से धर्मपरायण व्यक्ति हूँ ।"[2] फिर भी 20 वर्ष की आयु तक धार्मिक साहित्य के प्रति गाँधीजी की विशेष रूचि नही रही है । अन्य धर्मों के प्रमुख ग्रन्थों–कुरान, बाइबिल, भगवद्गीता, जैन वार्ताओ, तथा गुरूग्रन्थ–साहिब किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन उन्होने नही किया था ।"[3] दो थियोसाफिस्टो ने सर एडविन ऐरनाल्ड द्वारा अग्रेजी मे अनूदित "भगवद् गीता" की प्रति भेट की थी और इस धर्म–ग्रन्थ का उनके मन पर गहरा प्रभाव पडा था । यह सम्भवत धर्म या सत्य की खोज के प्रति गाँधीजी की सक्रिय शुरूआत थी । बाद में कवि कुलभूषण राजचन्द्र के सम्पर्क मे आने के फलस्वरूप सत्य की उनकी यह खोज और भी सघन हो गयी । राजचन्द्र बम्बई के जाने–माने जैन धर्मावलम्बी थे । इग्लैण्ड से वापस आने के बाद गाँधीजी उनके सम्पर्क मे आये । विशेषकर श्री राजचन्द्र (जैन धर्मावलम्बी होते हुए भी) ने गाँधीजी को हिन्दू धर्म ग्रन्थो के अध्ययन के प्रति प्रेरित किया । दक्षिण अफ्रीका मे धर्म के प्रति

---

1 आत्म–कथा, पृष्ठ सं0 – 120
2 आत्म–कथा, पृष्ठ स0 --
3 आतम–कथा, पृष्ठ – 91

गॉधीजी के सम्पर्क का और भी विस्तार हुआ क्योंकि उन्होने वहा टालस्टाय की "किंगडम ऑफ गॉड इज विद इन यू" और बाइबिल, विशेषकर "न्यूटेस्टामेट" और"सरमन आन द माउन्ट" ⟮पर्वत-प्रवचन⟯ का अध्ययन किया और इन्हे प्रभाव और प्रकृति की दृष्टि से भगवदगीता के समकक्ष माना । जैसे जैसे उनकी उम्र बढती गयी, धर्म उनका जीवन साथी और शौक बन गया ।[1]

गॉधीजी के अनुसार सभी धर्मो का अतिम लक्ष्य आत्म-ज्ञान है, जिसमे ईश्वर के प्रति आस्था और सत्य का अनवरत अनुसरण समाहित है । किन्तु वे धर्म को विशेष पन्थ या सम्प्रदाय के अर्थ मे स्वीकार नही करते । उनका धर्म "सत्य और न्याय-सगति का पर्याय है, जिन पर विश्व के सभी धर्मो ईसाइयत, हिन्दू-धर्म, बौद्ध धर्म, जैन-धर्म, यहूदी - धर्म और पारसी धर्म मे समान रूप से बल दिया गया है । गॉधीजी लिखते है कि " सच्चे धर्म और सच्ची नैतिकता को एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता । धर्म मे नैतिकता समायी हुई है - जैसे मिट्टी मे जल समाया हुआ है ।"[2] ईश्वर मे दृढ आस्था , गॉधीजी के धर्म और उनके समूचे चिन्तन तथा क्रिया कलापो का आधार है । जैसे कि पहले कहा गया है , बचपन मे ही उन्ह रामनाम जपने की शिक्षा दी गयी थी और 30 जनवरी 1948 को जब वे हत्यारे की गोलियो का शिकार हुए थे तो लीला समाप्त होने से पहले उनके मुह से 'हे राम' शब्द निकला । इस प्रकार बचपन से लेकर मृत्यु पर्यन्त वे ईश्वर की सत्ता और उपस्थिति के प्रति लगातार जागरूक रहे ।

इस प्रकार रामनाम उनके जीवन का अवलम्ब या सहारा बन गया । हिन्दू परिवार मे जन्म के कारण ही उनका व्यक्तिगत धर्म निर्धारित हो गया था, किन्तु फिर भी कभी कभी वे अपने व्यक्तिगत धर्म मे आस्था के कारण बताते थे । ⟮वाई आई ऐम हिन्दू" एक लेख मे उन्होने अपनी इस आस्था के निम्नाकित कारण बताये थे - यह ⟮हिन्दू धर्म ⟯ सभी धर्मो से अधिक सहिष्णु है । धर्म-सिद्धान्त के प्रति हठधर्मिता से मुक्ति इसके अनुयायियो को आत्माभिव्यक्ति का सर्वाधिक अवसर उपलब्ध कराती है । एकान्तिक ⟯ या संकीर्ण ⟯ धर्म न होने के कारण यह अपने उपासको को न केवल अन्य धर्मो का

---

1 आत्म-कथा पृष्ठ 92

2 यग इण्डिया

सम्मान करने को कहता है, बल्कि अन्य धर्मो की अच्छी बातो की प्रसशा करने और उन्हे अपने मे समाहित करने की भी शिक्षा देता है । अहिसा सभी धर्मो मे समान है, किन्तु हिन्दू धर्म मे इसकी व्याख्या और इसे अपनाने पर सर्वाधिक बल दिया गया है । हिन्दू धर्म न केवल मानवीय जीवन की एकता मे बल्कि प्राणी मात्र की एकता मे विश्वास रखता है ।"[1]

"हिन्दू धर्म" नामक पुस्तक (धर्म के बारे में गाँधीजी के महत्वपूर्ण वक्तव्यो और लेखो का सग्रह) मे भी गाँधीजी कहते है कि -- "मै अपने को सनातनी हिन्दू कहता हूँ क्योकि (मै वेदो , उपनिषदो, पुराणो और उन सभी ग्रन्थो मे जो हिन्दू धर्म से जुडे है और अवतारो तथा पुनर्जन्म में विश्वास करता हूँ । (11) मै एक खास अर्थ मे वर्णाश्रम धर्म को भी स्वीकार करता हूँ यानी ठेठ वैदिक में, न कि वर्तमान मे प्रचलित या सकीर्ण अर्थ मे) न कि आधुनिक जाति प्रणाली (111) मै गो रक्षा के पक्ष मे हूँ, लेकिन प्रचलित अर्थ से अधिक व्यापक अर्थ मे (1111) मै मूर्तिपूजा मे विश्वास नहीं रखता कुल मिलाकर गाँधीजी हिन्दू धर्म और भारतीय परम्परा के अन्धानुकरण या समर्थन के पक्ष नही है । इसलिए उन्होने लिखा है हिन्दू धर्म ग्रन्थो मे मेरे विश्वास का यह अर्थ नही है कि मै दिव्य प्रेरणा मानकर प्रत्येक अक्षर और मत्र को स्वीकार करूँ । मै किसी भी ऐसे धार्मिक सिद्धान्त को नामजूर करता हूँ जो कि तर्क की कसौटी पर खरा न उतरता हो या जो नैतिकता विरोधी हो ।"[2]

गाँधीजी हिन्दू धर्म-दर्शन या परम्परा के किसी भी जाने माने मत अथवा सम्प्रदाय से पूरी तरह संपृक्त नही कहे जा सकते, जैसा कि उन्होने कहा है, "मै अद्वैतवादी हूँ किन्तु फिर भी द्वैतवाद का समर्थन कर सकता हूँ ।"[3]

---

1 आत्म-कथा पृष्ठ सं0 - 45

2 आत्म-कथा पृष्ठ स0 - 312

3. आत्म-कथा पृष्ठ स0 -- 205

इसी प्रकार आत्मज्ञान या मोक्ष के अतिम हिन्दू लक्ष्य को स्वीकार करते हुए भी वे उपासक के लिए यह अनुचित मानते है कि ससार को त्यागकर जगलो या हिमालय की गोद मे जाकर बैठा जाये। दूसरी ओर बहुत पहले ही उन्होने लिखा था कि आत्म-ज्ञान (और ईश्वर को प्राप्त करने) का एक मात्र रास्ता "ईश्वर को उसकी सृष्टि मे देखना है उसके बनाये जगत के कल्याण के लिये काम करना है।[1] रहन-सहन की दृष्टि से देखें तो धोती पहने मिट्टी की कुटिया मे रहते हुए गाँधीजी रहस्यवादी लगते थे, किन्तु जैसा कि ब्रिटिश क्वेकर और शातिवादी होरेस अलेक्जेण्डर ने कहा है कि वे काफी हद तक रहस्यवादी थे – किन्तु अलौकिक सपने देखने वाले तथा अव्यावहारिक नही थे। वास्तव मे जैसा कि दक्षिण अफ्रीका और भारत में किये गये उनके कार्यो से पता चलता है कि वे जन जन के नेता थे और आद्योपान्त एक सक्रिय कार्य-कर्ता थे। यही कारण है कि 1906 मे उन्होने दक्षिण अफ्रीका मे जाति भेदभाव के खिलाफ अहिंसक आन्दोलन शुरू किया, लेकिन फिर भी वे "निष्क्रिय- विरोध" से अप्रसन्न थे। जिसका इस्तेमाल उन्होने अपनी कार्यवाही योजना के लिए किया था। इसके फलस्वरूप ही "सत्याग्रह" की अवधारणा सामने आयी। जब गाँधी जी से पूछा गया कि ईश्वर क्या है, तो उन्होने "नेति-नेति" नही कहा। उन्होने एक सहज तथा बोधगम्य उत्तर दिया "सत्य ही ईश्वर है" ईश्वर सत्य के अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकता क्योकि जो ईश्वर है वही सर्वशक्तिमान तथा सर्वत्र विद्यमान है जो शक्ति ऐसी होगी वह सत्य पर ही अवस्थित हो सकती है। सत्य ही एक ऐसा है जो बदलता नही, हमेशा एक ही रहता है, अपरिवर्तन शील है, यही गुण ईश्वर का भी है। केवल "सत्य" ही "विद्यमान" है। गाँधीजी का यह अध्ययन के सोलहवें श्लोक – "ना भावो विद्येत सत" -- पर आधारित है असत्य तो विद्यमान ही नही है। अविद्यान की विद्यमान पर विजय कैसे हो सकती है? इसी बलवती भावना के प्रभाव से गाँधीजी हमेशा निर्भीक और निडर बने रहे। इसी भावना से उनके "सत्याग्रह" के सिद्धान्त का जन्म हुआ है।

---

1 यग इण्डिया 7, मई 1925

वास्तव मे वे अक्सर यह सोचते थे कि उनकी राजनीति और सार्वजनिक गतिविधियाँ धर्म मे उनके सुदृढ विश्वास से अनुप्राणित है, इनके अनुसार "वह धर्म वास्तव मे धर्म नही है जो शून्य मे स्थित है और उसी के लिये काम करता है और व्यवहारिकता का कोई ख्याल नही रखता ।"[1] राजनीतिक गतिविधियो मे अपनी अधिकाधिक हिस्सेदारी को उन्होने कभी अनुचित नही माना । इसके विपरीत उन्होने कहा कि "सत्य के प्रति मेरी समर्पण भावना ही मुझे राजनीति मे खीच सकती है, और मै निसकोंच कह सकता हूँ कि जो लोग यह कहते है कि धर्म का राजनीति से कोई लेना देना नही वे यह नही जानते कि धर्म का अर्थ क्या है? धर्म विमुख राजनीतिक खतरनाक है , क्योकि वे आत्मा की हत्या करते है ।"[2] किन्तु धर्म सम्मत राजनीति को नैतिक आचरण और ऐसे मूल्यो के वर्ग मे रखा जाता है, जिनकी स्थापना सभी धर्मो ने समान रूप से की है । इनका सम्बन्ध शाश्वत तत्वो जैसे ईश्वर और सत्य के बारे मे व्यक्ति की अवधारणाओ के साथ है । अब प्रश्न यह है कि गाँधीजी की इनके बारे मे क्या राय है? गाँधीजी की ईश्वरीय अवधारणा अत्यन्त व्यापक है । इनके अनुसार "ईश्वर अपरिभाष्य है, जिसे हम सभी महसूस करते है, किन्तु हम उसे जान नही पाते .ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर प्रकाश और जीवन का स्रोत है और फिर भी वह हमेशा ऊपर और हमारी पहुँच के बाहर है ।"[3] उनके लिए ईश्वर अन्तर्यामी और अपरिवर्तनशील है, अनुभवातीत है । प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक धीरेन्द्र मोहन दत्त के अनुसार "गाँधी जी ने ईश्वर को आदि एव अनन्त के रूप मे वर्णित किया है और इसके जरिये ईश्वर के बारे मे विभिन्न धार्मिक अवधारणाओ को आत्मसात करने का प्रयास किया है ।"[4] गाँधीजी की ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा का एक महत्वपूर्ण आयाम यह है कि वे उसकी पहचान प्रेम मे करते है, करोड़ो निर्धन लोगो से प्रेम और सबसे बढ़कर सत्य से प्रेम गाँधीजी के अनुसार ईश्वर सत्य है जिसका अर्थ है ऐसी वस्तु जो विद्यमान है । इस प्रकार गाँधीजी सत्य के साथ

---

1 आत्म-कथा पृष्ठ

2 गीता द्वितीय अध्याय

3 आत्म-कथा पृष्ठ

4. गाँधी दर्शन

ईश्वर की पहचान करते है और कहते है कि "सत्य ही ईश्वर है ।"[1] अपने इस परिवर्तित समीकरण को स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं –

"मै इस निष्कर्ष पर लगभग 40 वर्ष की अथक और लगातार खोज के बाद पहुँचा हूँ । मैने यह पाया है कि सत्य के सर्वाधिक निकट प्रेम के जरिये पहुँचा जा सकता है । किन्तु मैने यह भी देखा है कि प्रेम के कई अर्थ है, कम से कम अग्रेजी भाषा मे तो है ही, और यह भी कि मनोविकार के रूप मे मानवीय प्रेम निम्न कोटि का हो जाता है । किन्तु सत्य के मामले मे मुझे दोहरे अर्थ की गुजाइश कभी दिखायी नहीं दी और यहाँ तक कि नास्तिक भी सत्य के अस्तित्व और अनिवार्यता पर आपत्ति नही कर सकता । किन्तु नास्तिक ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाते नही हिचकिचायेगा । यही कारण है कि मै "ईश्वर सत्य है" की बजाय "सत्य ही ईश्वर है" कहना उचित समझता हूँ । अब यदि नास्तिको सहित सभी मनुष्य सर्वव्यापक और अन्तर्यामी वास्तविकता तथा सत्य की निर्विवादिता को स्वीकार करते है । (जिसे गाँधीजी ईश्वर के रूप मे स्वीकार करते है) और यदि सत्य की खोज या अनुसंधान मानव मात्र के लिये समान महत्वपूर्ण है, तब समूची मानवता और सार्वभौमिकी एकता तथा अखण्डता स्वत ही पैदा हो जायेगी और आपस मे बॉटने वाली हिंसा को पूरी तरह दूर किया जा सकेगा । इस प्रकार "अहिंसा" या "सत्याग्रह" हमारा स्वाभाविक एव सामान्य व्यवहार हो जायेगा । अत शुरू मे जो चीज बडी निराकार या दार्शनिक किस्म की दिखती थी, उसे गाँधीजी ने व्यापक अहिंसा कार्यवाई या सत्याग्रह के रूप मे ठोस आधार प्रदान किया । अब हमे यहाँ सत्याग्रह शब्द का अर्थ व्यापक रूप मे जान लेना उचित होगा ।"[2]

सत्याग्रह क्या है ? अहिंसा के माध्यम से असत्य पर आधारित बुराई का विरोध करना ही सत्याग्रह है । गाँधी का मानना था कि हर व्यक्ति के अन्दर सत्य का अश

---

1 आत्म–कथा, पृष्ठ स0 --

2 गाँधी दर्शन

विद्यमान है और उसको सत्य की अनुभूति करायी जा सकती है । जब भी कोई व्यक्ति अथवा सरकार बुरा कार्य करता है तो उसके पीछे उसका भ्रम होता है । अपने अन्दर मौजूद सत्य के होते हुए भी वह असत्य के प्रभाव मे आ जाता है और बुरा कार्य करने लगता है । अगर हम उसे इस तथ्य का एहसास करा सके तो उस सत्य की अनुभूति होती रहेगी और वह असत्य के मार्ग से हट जायेगा, सत्य का आग्रह तभी किया जा सकता है । जब उसके लिये सम्भावनाये विद्यमान हो । गाँधीजी का अटल विश्वास था कि ये सम्भावनाएँ हमेशा विद्यमान रहती है क्योंकि हर व्यक्ति के अन्दर आत्मा होती है जो एक ईश्वरीय अश है । इसी अश को उजागर करने की आवश्यकता है । असत्य को असत्य से, बुराई को बुराई से नही जीता जा सकता है । इस अवधारणा के पीछे गाँधी पर बाइबिल का प्रभाव भी स्पष्ट दीख पडता है । इसके अतिरिक्त रूसो और टॉलस्टाय ने भी उनकी इस मान्यता को बल दिया । गाँधीजी आजीवन इस सत्य को आजमाते रहे और स्वय उन्होने ही कहा है कि उनकी धारणा कभी भी गलत नही सिद्ध हुई, उनके "सत्य के प्रयोग" ही उनकी आत्मकथा है ।

असत्य के विरोध मे सत्य का आग्रह कैसे सम्भव होगा ? गाँधीजी के अनुसार हृदय-परिवर्तन से ही ऐसा सम्भव हो सकता है । सत्याग्रही को चाहिये कि वह विरोधी का हृदय-परिवर्तन करे । अगर बुराई करने वाला व्यक्ति आपके डर या भय के कारण बुरा काम छोड दे तो इसे सफलता नही माना जा सकता । सत्याग्रही को तो विरोधी को अन्दर से यह महसूस करवाना है कि उसका मार्ग असत्य और बुराई का मार्ग है ज्यो ही उसे इस तथ्य का पता चलेगा वह स्वत ही बुराई छोडकर भलाई की ओर अग्रसर हो जायगा। यह सम्भव है क्योकि यह एक सहज मानवीय क्रिया है । हर व्यक्ति के अन्दर सत्यानुभूति की सम्भावनाए विद्यमान रहती है इन्ही को उजागर करना सत्याग्रही का कार्य है बुराई और अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाना ही सत्याग्रह है । इसके लिये सत्याग्रही के पास समुचित आत्मबल होना चाहिये, आत्मबल के अतिरिक्त निस्वार्थ भावना का होना भी आवश्यक है । सत्याग्रही को स्वय कष्ट मे डालकर, यातनाएँ, सहकर तथा सुख का परित्याग करके

बुराई का प्रतिरोध करना होगा तभी वह अपने विरोधी को यह महसूस करा सकेगा कि उसके अदर विरोध करने की शक्ति मौजूद है और वह बुराई के आगे झुकने वाला नही है अग्रेजो के विरूद्ध गाँधी ने इसी शक्ति के प्रयोग की बात कही थी और वे जीवन पर्यन्त इसी अस्त्र के सहारे ब्रिटिश राज के खिलाफ जूझते रहे।

गाँधीजी ने सत्याग्रह का मात्र सिद्धान्त ही नही दिया बल्कि उसकी सफलता के साधनो की भी चर्चा की है। सत्याग्रही को अहिंसक बने रहना है किन्तु विरोध बराबर जारी रहना चाहिए। पूर्णतया निष्क्रिय विरोध से काम नही चल सकता। सत्याग्रही को कतिपय साधनो का प्रयोग करना पडता है। ये मुख्य साधन है – हडताल, असहयोग, सविनय, अवज्ञा, उपवास, धरना, हिजरत सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार आदि।

हडताल का अर्थ अव्यवस्था फैलाना नही है। इसका मुख्य उद्देश्य है अनुचित साधनो के प्रयोग से धन कमाने की प्रवृत्ति को रोकना। गाँधीजी ने शैक्षिक सस्थाओ मे हडताल की आज्ञा नही दी और यह भी स्पष्ट किया कि हडताल के दौरान सत्याग्रही किसी नाजायज साधन का प्रयोग न करें। असहयोग का अर्थ है किसी भी नाजायज कार्य मे भाग न लेना। इसका भी वही अर्थ है जो हडताल का बुरे कार्यो में व्यवधान उपस्थित करना सविनय अवज्ञा का अर्थ है उन कानूनो को न मानना जो न्यायोचित न हो, किन्तु इन कानूनो का विरोध चुनौती के रूप मे नही होना चाहिए। हमको यह अधिकार नही है कि हम दुश्मन को भी उद्दण्डता परिचय दे। उपवास को गाँधीजी ने व्यक्तिगत शुद्धीकरण का साधन माना है। इसके द्वारा सत्याग्रही मे आत्मबल की वृद्धि होती है और विरोधी का ध्यान सत्याग्रही की ओर आकर्षित होता है। धरना का अर्थ है रास्ता रोकने की प्रक्रिया। इस बात मे गाँधीजी ने लोगों को सावधान करते हुये कहा है कि धरना देने का अर्थ जन–जीवन को अस्त–व्यस्त करना नही बल्कि शासन का ध्यान जनता की तरफ मोडना है। हिजरत का अर्थ है स्वेच्छा से स्थान परिवर्तन। कई स्थानों पर जहाँ हरिजनो पर अत्याचार किये जा रहे थे गाँधीजी ने उनको उन स्थानो को त्याग देने की सलाह दी ताकि उनको बेहतर वातावरण

मिल सके । बहिष्कार की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब किसी व्यक्ति या शासन को यह अहसास करवाना हो कि वे असामाजिक कार्य कर रहे है । उन लोगो से सम्पर्क तोड देना चाहिये जो कई कोशिशो के बावजूद भी अभद्र व्यवहार करना नही छोडते । आर्थिक बहिष्कार के अन्तर्गत उन वस्तुओ का बहिष्कार आता हे जो विदेशियो के लाभ के लिये चलायी जाती है । इसी का दूसरा रुप स्वदेशी है ।

उक्त वर्जित साधनो का प्रयोग गॉधीजी के मतानुसार बिना किसी पूर्वाग्रह के होना चाहिये । सत्याग्रह करने के पहले स्थिति का पूरी तरह से अध्ययन कर लेना चाहिये कही ऐसा न हो कि सत्याग्रह एक सही साधन होते हुए भी न्यायोचित न हो । सत्याग्रह की स्थिति तभी आनी चाहिये जब बातचीत का जरिया पूर्णरूप से असफल हा जाय और विरोधी अपनी गलती मानने से पूर्णतया इन्कार कर दे । एक और बात गॉधीजी न कही। उन्होने कहा कि सत्याग्रह का प्रयोग व्यक्तिगत चरित्र हनन के लिये या व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये नही किया जाना चाहिये सत्याग्रह को हर परिस्थिति मे एक नैतिक मूल्य बने रहना है ।

अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ मे गॉधीजी ने निष्क्रिय प्रतिरोध की बात की थी, किन्तु बाद मे उन्होने इस विद्या को अपने सत्याग्रह के सिद्धान्त से निकाल दिया था । उन्होने कहा कि निष्क्रिय प्रतिरोध एक काम चलाऊ राजनैतिक साधन है जबकि सत्याग्रह आत्म शक्ति का परिचय । निष्क्रिय प्रतिरोध हमारी कमजोरी का भी फल हो सकता है जबकि सत्याग्रह हमारी निर्भयता का द्योतक है । निष्क्रिय प्रतिरोध का अर्थ है विरोधी को हराने का प्रयत्न जबकि सत्याग्रह का तात्पर्य है हृदय–परिवर्तन । निष्क्रिय प्रतिरोध मे सत्याग्रह की आत्मिक शक्ति नहीं है इसलिये इसकी उपयोगिता सार्वभौमिक नही हो सकती ।

गॉधीजी ने सत्याग्रह को जनसाधारण की भावना बनाने के लिये निम्न बातो का

भी उल्लेख किया है, खादी का प्रचार, ग्रामोद्योगो की स्थापना, स्त्री उद्धार, मद्य-निषध, बुनियादी शिक्षा, राष्ट्र भाषा प्रचार आदि । इससे हमे गॉंधी दर्शन की समग्रता तथा पूर्णता का आभास मिलता है ।

गॉंधी स्वय इस बात का मानते थे कि सत्याग्रह को सिद्धान्त उनका मौलिक सिद्धान्त नही है, इसकी जडे भारतीय इतिहास मे बहुत गहरी है । बुराई का प्रतिरोध भलाई से, अन्याय का विरोध न्याय व प्रेम से, असत्य का प्रतिरोध ह्दय परिवर्तन से – ये सभी सिद्धान्त शाश्वत है । इनकी अभिव्यक्ति उपनिषदो मे हुई है । गॉंधीजी पर कुछ पशिचमी विचारको का भी प्रभाव पडा । उनको उनके विचारो से वहुत सहायता मिली है, किन्तु गॉंधी की मौलिकता को एक दूसरे सन्दर्भ मे भी देखना चाहिये । सत्याग्रह के सिद्धान्त का उपयोग गॉंधी से पहले केवल व्यक्तिगत रूप से हुआ था । शुकरात की शहादत तथा क्राइस्ट का बलिदान आदि इसके उदाहरण है । किन्तु गॉंधी के पहले इस सिद्धान्त को मानव की जीवन पद्धति के रूप मे कभी नहीं अपनाया गया । गॉंधी ने सत्याग्रह का एक व्यक्तिगत मान्यता न मानकर एक सामाजिक कर्तव्य माना है । वे इसका उपयोग राजनीति तथा अर्थनीति मे करने की सिफारिश करते है । सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग गॉंधी की सुधारवादी दृष्टिकोण से करने की बात करते है । वे कहते है कि बुराई और भलाई का सघर्ष, एक ऐसा तथ्य है जिसको हम किसी भी स्थिति मे नकार नही सकते । इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि इस सघर्ष को सुचारू रूप से चलाया जाये और तब तक चलाया जाये जब तक बुराई का पूरी तरह अन्त न हो जाये ।

सत्याग्रह एक नैतिक विद्या है, एक ऐसा साधन है, जो अपने आप मे पवित्र है और इसीलिये महत्वपूर्ण है । बिना साधन की पवित्रता के किसी साध्य की उपलब्धि नही हो सकती । हम अपने गन्तव्य की ओर तभी जा सकते है जब सही मार्ग का अनुसरण करे । सत्याग्रह की अवधारणा उन सनातन नैतिक मूल्यो पर आधारित है जो हमेशा एक से रहते है और परिस्थितियो के बदलने से स्वय नही बदलते । सत्याग्रह के बिना उस उच्चतम आदर्श की प्राप्ति नही हो सकती, जिसे गॉंधी ने "अहिंसा" का नाम दिया ।

गाँधीजी के धार्मिक विश्वास का एक महत्वपूर्ण आयाम यह है कि "साधन और लक्ष्य परिवर्तनीय है ।" आध्यात्मिक स्तर पर उनके लिये कथन है "आत्मज्ञान" और मानवीय स्तर पर लक्ष्य है –"बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय ।" किन्तु लक्ष्य के साथ साधनो की समस्या जुडी है । गाँधीजी के अनुसार मनुष्य लक्ष्य पर नियन्त्रण नही कर सकता । वह केवल उसे पाने का प्रयास कर सकता है । अत यदि हम साधन पर निगरानी रखे तो देर–सबेर हम अवश्य लक्ष्य पर पहुँचेगे । साधन से सिद्धि प्राप्त होती है और पहले का स्वरूप दूसरे को प्रभावित करता है । गाँधीजी क अनुसार, "जैसे साधन होगे वैसी ही सिद्धि होगी ।" अत गाँधीजी कम्युनिस्टो, फासिस्टों, श्रमिक, सघवादियो और व्यवहारिक राजनेताओ के खिलाफ है, जो यह मानते है कि "लक्ष्य साधनो की उपादेयता सिद्ध करता है ।" अत वे तनाव के समाधान और शाति तथा सद्भावना बहाल करने के लिये युद्ध और हिसा को साधन के रूप मे अपनाये जाने के खिलाफ है ।

गाँधीजी की धर्मपरायणता का एक महत्वपूर्ण पहलू या धर्म के प्रति सरोकार यह है कि वे धर्म और नैतिकता के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानते है । उनका यह मानना है कि "धर्म के बिना भी नैतिकता का पालन किया जा सकता है ।" और यह भी कि "विश्व के महान् धर्मों मे नैतिकता सम्बन्धी नियम अधिकतर समान है ।" अत नैतिक होने के लिये किसी को धर्म विशेष से आबद्ध होने की आवश्यकता नहीं है – वह ईसाई, हिन्दू–मुसलमान, पारसी या सिख विरोधी, किसी भी धर्म से सम्बद्ध हो सकता है ।" उच्च नैतिकता का यह दायित्व है कि वह "प्रत्येक मानवीय प्राणी के प्रति सवेदनशील हो ।" गाँधीजी आदर्श रूप मे इस सवेदनशीलता या प्रेम का विस्तार उप मानवीय जीवन या पशुओ तक भी करते है । किन्तु गाँधीजी के अनुसार विश्वास, प्रार्थना और आत्मानुशासन के बिना नैतिकता को ठोस रूप नही दिया जा सकता है ।

गाँधीजी का कथन है कि "एक सत्याग्रही को ईश्वर मे सक्रिय विश्वास रखना चाहिये ।" अब "ईश्वर मे सक्रिय विश्वास" के कई अर्थ है । पहला यह कि इसमे यह

विश्वास निहित है कि विश्व मे जो कुछ होता है वह ईश्वर द्वारा सचालित है । इसका अर्थ है अलौकिक सत्ता को पूरी तरह स्वीकार करना । दूसरा अर्थ है आशा । यहाँ तक कि (जैसा कि कहावत भी है) निराशा के विपरीत आशा यानी ईश्वर अच्छा हो तो स्पष्टत "असम्भव भी सम्भव हो सकता है ।" तीसरा इसका अर्थ है "ईश्वर के प्रतिपूर्ण समर्पण ।" यह विश्वास गाँधीजी को इस हद तक था कि दक्षिणी-अफ्रीका मे उन्होंने अपनी जीवन बीमा पालिसी को निरस्त होने दिया । क्योकि गाँधीजी मानते थे कि हमारा भविष्य अलौकिक शक्ति या ईश कृपा से सर्वाधिक आश्वस्त किया जा सकता है । गाँधीजी के अनुसार यह विश्वास "तर्क से परे है ।" वे इसे इस प्रकार व्यक्त करते है –

"हमे हर प्रकार की घटनाओ का सामना करने के लिये सदैव तैयार रहना चाहिये। हमे यह जानने की कोशिश करनी चाहिये कि हमारे भविष्य के गर्भ मे क्या है ? हमारी सोच-विचार कर तैयार की गयी योजनाये अक्सर आडे-तिरछे परिणाम सामने लाती है । अत सबसे अधिक बुद्धिमानी की बात यह होगी कि भविष्य के प्रति कभी चिन्तित न हुआ जाये, बल्कि अपने को पूरी तरह ईश्वर के इच्छाधीन छोड दिया जाये ।" अत एक क्षण भी निराशा का अर्थ हुआ ।" ईश्वर के प्रति विश्वास में कमी ।" अत सर्वोत्तम सिद्धान्त यह है कि सभी चिन्ताएँ ईश्वर पर छोड़ दी जाये और उस पर विश्वास कर ज्ञान प्राप्त होने का इन्तजार किया जाये । जैसा कि सिमानवेल ने कहा है "ईश्वर के भरोसे रहना ।" किन्तु विश्वास पैदा करने और उसे बनाये रखने के लिये प्रार्थना का ही अधिक सहारा लिया जा सकता है । अत अपने बारे मे गाँधीजी कहते है कि "मै विश्वासपूर्वक तुम्हे बताता हूँ कि मै ईश्वर की प्रार्थना किये बिना कोई कार्य शुरू नही करता ।"[1] इससे ईश्वर के सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक स्वरूप के प्रति उनकी चेतना का पता चलता है, और वे उसी शक्ति मे विश्वास करते है और व्यक्तियो तथा राष्ट्रों को भी उसी शक्ति मे विश्वास करने के लिये कहते है – "व्यक्ति और राष्ट्र के तनाव से मुक्ति और शाति

---

1 आत्म-कथा, पृष्ठ स0 – 72

प्राप्त करने के लिये ईश्वर को रक्षाकर्ता शक्ति के रूप मे विश्वास रखना चाहिये और प्रेम की ईश्वरीय सत्ता और उसके सुरक्षा कवच मे विश्वास करते हुये सभी हथियार समाप्त कर देने चाहिये।"[1]

जहाँ तक प्रार्थना के व्यापक अर्थ का प्रश्न है, गाँधीजी के अनुसार "कोई भी भक्तिपूर्ण कार्य का श्रद्धापूर्ण ढग से ईश्वर से कुछ मागना प्रार्थना कहलाता है। किन्तु इस परिभाषा से केवल अवसरानुकूल या प्रसगवश की जाने वाली प्रार्थना का ही बोध होता है जो अक्सर आवश्यकता और मुसीबत के क्षणो मे की जाती है। इससे विश्वास पैदा या मजबूत नही होता। वास्तविक और सार्थक प्रार्थना वह है जो हृदय से उपजी हो -- आत्मा की उत्कण्ठा हो "ऐसी प्रार्थना के अन्तर्गत" व्यक्ति को अपनी कमजोरियाँ हर रोज स्वीकार करनी पड सकती है।"[2] यह ऐसा क्षण होता है जब व्यक्ति अपने तात्कालिक अतीत का मूल्याकन करता है, अपनी कमजोरियो को स्वीकार करता है, क्षमा याचना करता है और कुछ बेहतर करने के लिये ईश्वर से शक्ति माँगता है, इसके लिये आवश्यक नहीं है कि जोर–जोर से चिल्लाकर प्रार्थना की जाये। ईश्वर के प्रति मौन सजगता ही प्रार्थना है। इसके अलावा गाँधीजी का यह भी मानना है कि "कर्म ही पूजा है" और निर्धनो की सेवा "सबसे बडी भक्ति है" यह अनेक रूपो मे की जा सकती है और दिन या रात के किसी भी पहर मे हो सकता है। किन्तु सर्वाधिक अनिवार्य बात यह है कि यह हृदय की गहरायी से अवश्य निकलती हो, और अन्तिम लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रार्थना का अर्थ है "हृदय और मस्तिष्क की शुद्धता" उपयुक्त प्रार्थना आत्मबुद्धि पर बल देती है" और आत्मबुद्धि के लिये आवश्यक है कि आत्मानुशासन जो पाँच सिद्धान्तो (व्रतो) पर आधारित होता है जिसे गाँधीजी ने पतजलि के 'योगसूत्र' मे वर्णित पचव्रतो की पद्धति पर धारण किया। गाँधीजी ने दक्षिण अफ्रीका मे योगसूत्र का अध्ययन किया था। ये पाँच व्रत है – सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य।

---

1 आत्म–कथा, पृष्ठ स0 – 279
2 आत्म–कथा, पृष्ठ स0 – 280

सत्य पहला और अग्रणी व्रत है । किन्तु व्रत के रूप म सत्य पूर्ण सत्य से भिन्न है, जिसे गाँधी जी ईश्वर के रूप मे मानते थे । सत्य का पालन पूर्ण सत्य को प्राप्त करने का साधन माना है । गाँधीजी क अनुसार, मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन करना चाहिये ।"[1] इतना ही नही सत्य के व्रत का पालन करने के लिये अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता पडती है इस व्रत का पालन सभव होने से अन्य व्रतो का पालन आसान हो जाता है ।

सत्याग्रह एक नैतिक विद्या है एक ऐसा साधन है, जो अपने आप मे पवित्र है और इसीलिये महत्वपूर्ण है । बिना साधन की पवित्रता के किसी साध्य की उपलब्धि नही हो सकती । हम अपने गन्तव्य की ओर, तभी जा सकते है जब सही मार्ग का अनुसरण करे । सत्याग्रह की अवधारणा उन सनातन नैतिक मूल्यो पर आधारित है जो हमेशा एक से रहते है और परिस्थितियो के बदलने से स्वय नही बदलते । सत्याग्रह के बिना उस उच्चतम आदर्श की प्राप्ति नही हो सकती जिसे गाँधी ने "अहिसा" का नाम दिया ।

गाँधी की सत्याग्रह सम्बन्धी विचारधारा का मूल श्रोत उनका अहिंसा का सिद्धान्त है । कोई व्यक्ति सत्याग्रही तभी हो सकता है जब वह अहिसक हो । हिसा और सत्याग्रह ये दो बाते एक साथ नही चल सकती । जो अहिंसक है केवल वही सही अर्थ मे सत्याग्रही भी हो सकता है ।

अहिंसा क्या है ? किसी व्यक्ति या प्राणी की हत्या न करना मात्र ही अहिंसा नही है । अहिंसा तो एक व्यापक नैतिक दृष्टि है, एक ऐसा नजरिया जो प्राणी मात्र के एकत्व को मानकर चलता है, अहिंसा आत्मा की आवाज है, मस्तिष्क से उत्पन्न होने वाला विचार नही कई परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती है, जिनमें मनुष्य व्यक्तिगत आत्मरक्षा

---

1 आत्म–कथा, पृष्ठ सं0 – 278

के लिये मरन-मारने पर उतारू हा जाये। ऐसा व्यवहार अहिंसक व्यवहार नही कहा जायेगा। लेकिन अगर दूसर की रक्षा क लिये अपना बलिदान भी करना पडे तो इसमे सच्चा सत्याग्रही चूकेगा नही । ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है जिसमे नैतिक बल हो । यही नैतिक बल हो । यही नैतिक बल उसके अहिसक होने का प्रमाण है ।

गाँधी की अहिंसा की यह व्याख्या भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्तो पर आधारित है । हमारे उपनिषदो, पुराणो, योग–ग्रन्थो मे इसका वर्णन किया गया है । जैन और बौद्ध धर्म की तो बुनियाद ही अहिंसा के सिद्धान्त पर ही आधारित है । "हिंसा न करना" के सीमित दायरे से आगे बढाकर उन्होने इस सिद्धान्त का सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का आधार बनाया । टॉलस्टॉय, प्रिसक्रोपाटकिन, रस्किन, रूसो आदि पाश्चात्य विचारको के सिद्धातो के सम्पर्क मे आकर गाँधी ने एक साधारण नैतिक सिद्धान्त को एक महत्वपूर्ण दार्शनिक रूप प्रदान कर दिया । सिद्धान्त पुराना है, उसका व्यक्तिगत, राजनैतिक और सामाजिक पहलू गाँधी दर्शन मे एकदम नवीनता लिये हुये है । यह गाँधी की महान उपलब्धि थी कि उन्होने आधुनिक मौलिकतावादी युग मे ऐसे सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्त की स्थापना की ।

अपने सम्पूर्ण साहित्य मे गाँधी ने इस व्यापक नैतिक सिद्धान्त की विशद् व्याख्या की है । उनके अनुसार अहिंसा नकारात्मक भी हो सकती है और सकारात्मक भी । अगर हम विरोधी से भयभीत होकर अहिंसक बने रहे तो यह सिर्फ नकारात्मक अहिसा है जिसको अहिंसा न कहकर, कायरता कहा जाना चाहिये । सकारात्मक अहिंसा का जन्म तो आत्मिक मन से होता है, भय से नही । हम तभी सच्चे अर्थ मे अहिसक है, यदि हिसा कर सकने की स्थिति मे भी हम ऐसा न करे, क्योकि हिंसा से जो कार्य हम करना चाहते है, वह नही कर पायेगे । हमको पाप से लडना है पापी से नही । पापी तो, चाहे कितना ही बडा पापी क्यो न हो मनुष्य ही है । उसके अन्दर भी ईश्वर का अश मौजूद है जिसे हम सत्य कहते हैं । हमको तो पापी के अन्दर विद्यमान किन्तु आच्छादित, इस तत्व को उजागर करना है उसका हृदय परिवर्तन करना है तभी हम सच्चे अर्थ मे अहिसक है, यही कारण है कि गाँधी के जीवन–काल मे ही कई लोग उनसे सहमत नही थे । उनका

कहना था कि अग्रज हमारे दुश्मन है और हमे उनको बल प्रयोग से भारत से भगाना होगा। परन्तु गाँधी इस विचार स सहमत नही थे वे चाहते थे कि अग्रेज स्वय ही इस बात को महसूस करे कि वे भारत का शोषण करके एक कुत्सित कार्य कर रहे है । भारत की स्वतन्त्रता, गाँधी के अहिसावाद का परिणाम था या उनसे असहमत होने वाले "गरम दल" वाले लोगों के प्रयत्न का परिणाम ? यह प्रश्न हमेशा रहेगा और विभिन्न इतिहासकार इसका उत्तर विभिन्न रूप से देगे । इतना अवश्य है कि अगर वे चाहते तो भारत की स्वतन्त्रता की माँग को वर्षो तक टाल सकते थे । गाँधीजी की नैतिक भूमिका के बगैर 1947 मे स्वतन्त्रता मिल पाना कदाचित् सम्भव नही था ।

गाँधी के अहिसा सिद्धान्त के बारे मे एक बहुत बडी गलतफहमी भी है । कुछ लोग सोचते है कि आजकल की दुनिया मे, जहाँ अत्यन्त भयानक हथियारो के सहारे युद्ध होते है तथा कूटनीति के बल पर राज्य बनते अथवा ध्वस्त होते है । गाँधी का अहिंसा का सिद्धान्त केवल एक किताबी विचार बनकर रह जाता है । ये लोग यह भूल जाते है कि युद्धो के मूल मे हथियार नही, हथियार चलाने वाले मनुष्य की प्रवृत्तियाँ होती है, और कूटनीति (जिस अर्थ मे प्राय इसका प्रयोग होता है) बेईमानी का दूसरा नाम है । गाँधीजी की लडाई मनुष्य की उन मूल प्रवृत्तियो के खिलाफ थी जो साधारण मनुष्यो के ऊपर युद्ध थोपा करती है । वे लडते रहे उस राजनैतिक बेईमानी के खिलाफ जिसे कूटनीति या 'डिप्लोमेसी' कहा जाता है । गाँधी मनुष्य के नैतिक विकास के सिद्धान्त पर विश्वास रखते थे । वे जानते थे कि मानव जाति तभी जिंदा रह सकती है जब वह निरन्तर नैतिक विकास की ओर अग्रसर हो । ऐसा तभी हो सकता है जब सत्यग्रह जैसे अस्त्र से अहिंसा की ढाल के सहारे राजनीति चलायी जाये । इसीलिये उन्होने कहा था – "अहिसा सामाजिक वस्तु है केवल व्यक्तिगत वस्तु नही ।" इस अस्त्र पर उनका इतना विश्वास था कि वे कहा करते थे – मै अनेक बार कह चुका हूँ कि एक भी सच्चा सत्याग्रही हो तो वह पर्याप्त है ।" आधुनिक युग मे गाँधी दर्शन की प्रासगिकता को इसी सन्दर्भ मे समझना चाहिये ।

अहिंसा का भाव प्राचीन भारतीय आदर्श "अहिंसा परमो धर्म" पर आधारित है । इस अर्थ मे इसे गाँधी का मौलिक आविष्कार नही माना जा सकता । गाँधी की मौलिकता तो इस बात मे है कि उन्होंने इस सिद्धान्त को व्यक्तिगत धरातल से उठाकर सामाजिक तथा राजनैतिक धरातल पर अवस्थित किया । अहिसा व्यक्ति मात्र का धर्म नही है, इसकी आवश्यकता तो समस्त मानव जीवन के लिये है ।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गाँधी का अहिंसा–सिद्धान्त उनकी सत्य की आस्था पर टिका है । बिना सत्य की अनुभूति के अहिसा का सिद्धान्त व्यवहारिक नही हो सकता । इसी प्रकार बिना अहिंसा के मार्ग का अनुसरण किये सत्य की खोज सम्भव नही है । इसीलिये गाँधी ने अपने आश्रम मे निवास करने वाले लोगो के लिय सत्य और अहिंसा का मार्ग, अनिवार्य कर दिया था, जो व्यक्ति इस मार्ग से हट जाये, उसका आश्रम मे रहने की आज्ञा नही दी ।

गाँधी ने अहिंसा को व्यक्ति के हृदय से जोडकर देखा । किसी को आघात न पहुँचे यह तो आवश्यक है ही, साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि इसी सिद्धान्त का परिपालन करने वाले की आत्मा पर कोई आघात न लगे । सच्ची अहिंसा–मनसा, वाचा, कर्मणा पालन पर आधारित है । हमको केवल कर्म से ही नही और वचन से भी अहिंसक होना चाहिये । तभी हम प्राणि मात्र मे व्याप्त एकत्व के सिद्धान्त को समझ सकते है । अगर हम किसी भी स्थिति में दूसरे के दुख का कारण बन जाते है तो हम अहिसक नही हैं । आत्म–त्याग का यह भाव गाँधी के अहिंसा सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण पहलू है । सच्चा अहिसावादी वही है जो दूसरे के भले के लिये अपने स्वार्थों का बलिदान करने के लिये सदा तत्पर रहे, जब तक व्यक्तिगत अहकारपूर्ण रूप से समाप्त न हो जाये पूर्णरूप से अहिंसा सम्भव नही है । क्या मनुष्य के लिये इस आदर्श की सम्पूर्ण उपलब्धि सम्भव है ? गाँधी ने स्वय कहा है कि मनुष्य की ऐसी नियति ही नहीं है कि वह इस आदर्श को पूर्ण रूप से प्राप्त कर सके । किसी हद तक जगली जानवरो को मार कर अपनी

रक्षा करना आवश्यक है, उसी प्रकार यदि हमारे उपर युद्ध थोपा गया, तो हमें सक्रिय रूप से उसका सामना करना पडेगा । इस प्रकार अहिसा के आदर्श का पालन पूरी तरह मानव जीवन मे सम्भव नही है इतना अवश्य है कि हम जहाँ तक हो सके इस अपने व्यक्तिगत जीवन मे उतारे, और हम सब मिलकर इसको एक सामाजिक आवश्यकता समझकर ग्रहण करे । जीवन मे थोडी बहुत हिंसा अपरिहार्य हो सकती है किन्तु मानव स्वाभावत शातिप्रमी होता है और कलह के विरूद्ध शाति का चयन उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है । गॉधी मेकियावेली तथा हाब्स जैसे विचारको की इस धारणा से सहमत नही थे कि मनुष्य स्वभावत स्वार्थी है । उनका बाइबिल की इस उक्ति पर कि "मनुष्य की रचना ईश्वर ने अपने अनुरूप ही की है, अटल विश्वास था क्योंकि मनुष्य के अन्दर एक ईश्वरीय आत्मा विद्यमान है इसलिए मनुष्य स्वभावत बुराई को त्यागकर, भलाई के मार्ग पर चलना चाहता है । जब वह ऐसा नही कर पाता उसके लिए उसका अज्ञान अथवा उसका सामाजिक दाताचरण जिम्मेदार होता है । अगर उसकी आत्मा को आच्छादित करने वाले अज्ञान रूपी अधकार को हटा दिया जाये और उसकी विषम परिस्थितियों का निराकरण कर दिया जाये तो वह भलाई के मार्ग पर ही अग्रसर होगा । गॉधीजी के दक्षिण अफ्रीका के अनुभव और बाद मे भारत मे अग्रेजो के खिलाफ चलाये गये सघर्ष के अनुभव इस बात को पूर्णतया सिद्ध करते है कि अहिंसा का अमोघ अस्त्र, हिंसा पर सर्वदा विजय प्राप्त करता है । दक्षिणी अफ्रीका मे जनरल स्मट्स जैसे लोग समझ ही न पाये कि गॉधी जैसे सत्याग्रहियो से कैसे निपटा जाये क्योंकि वे ईट का जवाब पत्थर से नही बल्कि प्रेम से देते थे । इसी प्रकार अग्रेज भी यह नही समझ पाये कि गॉधी के पास वह कौन सा जादू था जो हर दमनकारी प्रवृत्ति का इतनी सफलता से मुकाबला कर लेता था । गॉधी का यह जादू "अहिंसा" का जादू था ।

गॉधीजी के धार्मिक विचार और विश्वास के विषय में कोई अध्ययन तब तक अधूरा है जब तक हम हिन्दू धर्म के विषय मे उनके विचार को न जान ले । हिन्दू धर्म नामक पुस्तक मे गॉधीी की हिन्दू धर्म-विषयक सम्पूर्ण रचनाओं का सुन्दर संकलन है ।

गाँधी इसमे विश्वास करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति एक भौतिक और सास्कृतिक वातावरण मे कुछ विशेष आनुवाशिक गुणो और वृत्तियो के साथ जन्म लेता है । जिन धार्मिक वश परम्परा मे व्यक्ति जन्मा और पला है, उसकी उपेक्षा करना भारी भूल है । प्रश्न कवल इतना ही है कि इन गुणो का किस प्रकार सुन्दर से सुन्दर शीघ्र से शीघ्र और सहज ढग से विकास किया जा सके । क्रास, चाँद, ऊँ, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मुक्ति आदि धर्म की शब्दावलियाँ, प्रतीक और कोटियाँ, मनुष्यो के अपने-अपने धार्मिक-सास्कृतिक परिवेशो मे जो आध्यात्मिक सवेग और उत्साह पैदा करता है, वे दूसरे परिवेशो से सम्भव नही है । यही उन्होने अपने सम्बन्ध मे पाया । उनका सभी धर्मो के अनुयायियो के साथ केवल अत्यन्त निकट का सम्पर्क ही नही था, बल्कि उनके लिये उनके हृदय मे अपार करूणा और सहनुभूति भी थी । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन्होने पाया कि उनके लिये हिन्दू-धर्म ही सबसे अधिक उपयुक्त है ।

लेकिन प्रश्न यह है कि क्या यह नैतिक दृष्टि से भी उपयुक्त है ? क्या उन्होने यह नही कहा था कि यदि कोई भी परम्परा चाहे वह कितनी भी प्राचीन क्यो न हो, यदि वह नैतिकता के साथ मेल नही खाती हो, तो उसका त्याग कर देना चाहिये । विभिन्न प्रकार के प्रभावो के कारण देश के विभिन्न भागो मे पाँच हजार वर्षो के विकास-काल मे हिन्दू-धर्म मे अनेक बुराईयो और रूढियों आदि का प्रवेश हो गया था, फिर भी वे आश्वस्त थे कि मूल और साररूप में हिन्दू धर्म बिल्कुल सही और दुरूस्त है । इससे उच्च से उच्च नैतिक आदर्शो की प्रेरणा मिलती है । उपनिषद्, गीता और तुलसीदास के रामचरित मानस से इनका पर्याप्त बौद्धिक एव नैतिक विकास हुआ । सभी पदार्थों मे भगवान की सत्ता, सभी जीवो के प्रतिप्रेम और करूणा, आत्म-सयम और निस्वार्थ सेवा के द्वारा मोक्ष प्राप्ति आदि सारे उपान्त विचार उनमे भरे पडे है ।

गाँधीजी को कभी यह शका नही हुई कि ये विचार दूसरे धर्मों के अन्दर नही हैं । किन्तु गीता के अनुसार सभी धर्मों के प्रति समान आदर-भाव उनके धर्म की खास

चीज थी, जिसे उन्होने दूसरी जगह नही पाया । इसका उन्ह विशष गर्व था । इसीलिये वे एक कट्टर हिन्दू बने रहकर भी दूसरे धर्मों की सुन्दरता एव अच्छाई का लाभ लेते रहे और सभी मनुष्यो के बीच अधिक से अधिक प्रेम का सम्बन्ध विकसित करते रहे । उन्हे इस बात का भी गर्व था कि हिन्दू जाति ने उत्पीडन से बचने के लिये विस्थापित ईसाईयो, यहूदियो एव पारसियो को भी शरण दी ।

गाँधीजी के अनुसार हिन्दू-धर्म एक विराट शक्तिशाली प्राचीन वृक्ष के समान है, जिसकी अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ फैली हुई है । इससे यह प्रकट होता है कि इसका अनत विकास सभव है । जिस प्रकार ईसाई धर्म के अन्तर्गत फैली हुई कुरीतियो से घृणा रखते हुए प्रोटेस्टेन्ट लोगो ने मूल ईसाई-धर्म का परित्याग नही कर उसका पुन सस्कार किया, जिस प्रकार यूनीटेरियल सम्प्रदाय के लोगो ने भले ही त्रैतवाद को अस्वीकार किया हो, किन्तु ईसाई-धर्म को छोडा नही, बल्कि उसका सुधार ही किया, उसी प्रकार गाँधी ने सोचा कि हिन्दू धर्म का युग नये प्रकाश मे पुन-पुन नवसस्कार होता रहा है और होता ही रहेगा । सौभाग्य से हिन्दू धर्म किसी रूढि विशेष से अलग नही है । यह एक अत्यन्त उन्मुक्त धर्म है, यह एक विकासमान धर्म है और यही उसकी सबसे बडी आशा है । गाँधीजी ने यह अनुभव किया कि यदि वे एक सच्चे हिन्दू के रूप मे रहते है तो फिर इसके अन्दर रहकर भी इसको प्रभावकारी ढ़ग से सुधार सकते है । सनातनी लोगो के तीव्र विरोधो के बावजूद हिन्दू धर्म का सुधार गाँधीजी के सामने मुख्य काम था और इसके लिये उन्होने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया । शायद इसी कारण इतने अल्प समय मे उन्हें इस क्षेत्र मे भी आशातीत सफलता मिली । गाँधीजी की यह सफलता वस्तुत सम्पूर्ण मानवता की विजय थी ।

आज विश्व को ऐसे अच्छे-अच्छे व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो सभी धर्मो के महान उपदेशो को अपने जीवन मे स्थान दे रखे । दुनियाँ के सभी धर्मों के विशिष्ट पुरूषो द्वारा जिस तत्परता के साथ गाँधी और गाँधी विचार को ग्रहण किया गया है वह

इस बात को प्रकट करता है कि वे स्वय सिद्धान्त की कसौटी पर खरे उतरे थे ।

आधारभूत एकता :

सभी धर्मावलम्बियो के द्वारा किसी उत्तम व्यक्ति के मूल्याकन के लिये यह मानना होगा कि "सभी धर्मों का एक समान नैतिक आधार है, जिसे हम विश्व-धर्म जिसे हम विश्व धर्म कह सकते है ।" इसका अर्थ यह है कि विश्व मे एक नैतिक व्यवस्था है। यह विश्व धर्म हिन्दू, इस्लाम, ईसाई आदि साम्प्रदायिक धर्मो से उपर है । किन्तु विश्व धर्म अलग-अलग धर्मों का विसर्जन नहीं करता, बल्कि उनका समन्वय कर उन्हे एक नयी वास्तविकता प्रदान करता है । अपने धर्म के साथ-साथ दूसरे धर्मों के अध्ययन से हमे सभी धर्मों की आधारभूत एकता की अनुभूति होती है और साथ ही धर्म और सम्प्रदाय से मुक्त एक सामान्य निरपेक्ष सत्य का भी दर्शन होता है ।

धार्मिक विचारधारा पर वेदान्त का प्रभाव :

इस प्रकार यदि हम गाँधीजी के धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आद्योपान्त दृष्टि डाले तो हमें यह प्रतीत होता है कि उनका धर्म सम्बन्धी यह विचार पूर्ण रूप से वेदान्त-दर्शन एव वेदान्तिक विचारो से प्रभावित है ।

गाँधीजी के धर्म-दर्शन एव विचार का मूल श्रोत ही वैदिक दर्शन है । वैदिक या वेदान्त के दो मूलभूत प्रणेता है शकर और रामानुज । दोनो अद्वैतवादी है तथा वेदान्त दर्शन के आधार-स्तम्भ है । ब्रह्म के सम्बन्ध मे शकर एव रामानुज दोनो के विचारो मे मतभेद है । लेकिन गाँधी के दर्शन मे दोनो का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । गाँधीजी मे शकर का प्रभाव यदा-कदा दृष्टिगोचर होता है किन्तु उनकी भावना रामानुज के अधिक निकट प्रतीत होती है ।

गाँधी का यह कथन कि सृष्टिकर्ता अगम्य अवश्य है, किन्तु उसका आभास उसकी सृष्टि मे मिलता है । वह केवल सृजनहार ही नही बल्कि पालनहार भी है और

हमारी प्रार्थना उसके कानो तक पहुँच सकती है । उसकी इच्छा के बिना एक भी पत्ता नही हिल सकता है और पत्ते का हिलना उसके अस्तित्व का प्रतीक है । ईशावास्यमिद सर्व – "ईश्वर सबमे है और सबमे विद्यमान है यजुर्वेद का यह वाक्य गाँधी के धार्मिक विचारो का मूल आधार है ।

वेदान्तियो की तरह गाँधीजी भी कहते है कि सभी धर्मो का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म–ज्ञान या आत्म–ज्ञान है । गाँधीजी कहते है कि मै अद्वैतवादी हूँ फिर भी द्वैतवाद मे भी विश्वास करता हूँ ये दो सम्प्रदाय–वेदान्त–दर्शन के ही है ।

इसी प्रकार आत्म ज्ञान या मोक्ष के सम्बन्ध मे कहते है कि यही प्रत्येक हिन्दू धर्म या अन्य धर्मो का भी लक्ष्य है । "यग–इण्डिया के 7 मई 1925 के अक मे उनका यह कथन कि आत्म–ज्ञान का एक मात्र रास्ता" ईश्वर को उसकी सृष्टि मे देखना" है और उसके बनाये जगत के कल्याण के लिये काम करना है ।"[1]

ईश्वर के ज्ञान के सम्बन्ध मे उपनिषद् के नेति–नेति को अस्वीकार करते हुये गाँधी ने कहा कि "सत्य ही है ईश्वर है" ईश्वर सत्य के अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकता क्योकि जो ईश्वर है वही सर्वशक्तिमान तथा सर्वत्र विद्यमान है जो शक्ति ऐसी होगी वह सत्य पर ही अवस्थित हो सकती है । 'सत्य' ही ऐसा तत्व है जो बदलता नही हमेशा एक ही रहता है, अपरिवर्तनशील है, यही गुण ईश्वर का भी है । केवल सत्य ही विद्यमान है । ये विचार स्पष्ट रूप से वेदान्त से ही प्रेरित है जैसा कि गाँधी ने स्वय स्वीकार किया है ।

सत्य के पालन के लिये गाँधीजी ने जिन साधनो का प्रयोग बताया है उन्ही साधनो का उल्लेख वेदान्त मे भी बताया गया है ।

---

1. आत्म–कथा, पृष्ठ स0 – 296

गाँधीजी की ईश्वरीय अवधारणा अत्यन्त व्यापक हे । इनक अनुसार "ईश्वर अपरिभाष्य है, जिसे हम सभी महसूस करते है, किन्तु हम उसे जान नही पाते । ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर प्रकाश और जीवन का श्रोत है और भी वह हमसे ऊपर और हमारी पहुँच के बाहर है ।"[1] उनके लिये ईश्वर अन्तर्यामी और अपरिवर्तनशील तथा अनुभवातीत है ।"

यदि हम गाँधी जी के ईश्वर सम्बन्धी इस विचार को शकर के वेदान्त दर्शन मे देखे तो हमे यह स्पष्ट दीख पडता है । गाँधी के ही तरह शकर ने भी वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म का लक्षण बताते हुये कहा है कि ब्रह्म पूर्ण सत्य है यह नित्य एव अपरिवर्तनशील है । उसमें परिवर्तन या विकास नही होता । वह सदैव एक समान रहता है। सब ब्रह्म आत्मा है । ब्रह्म–स्वत सिद्ध है । इसके सिद्ध करने की आवश्यकता नही है ।

गाँधी की ही तरह शकर ने भी ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा है सच्चिदानद का अर्थ – सत् + चित् + आनन्द । ब्रह्म सत्ता विशुद्ध चेतना एव आनन्दमय है । निर्गुण ब्रह्म को भावात्मक ढंग से नहीं समझा जा सकता ।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि धार्मिक विचार वेदान्त से पूरी तरह प्रभावित है ।

---

1 गाँधी दर्शन – धीरेन्द्र मोहन दत्त

2 ब्रह्मसूत्र भाष्य – शकर शर्मा

पंचम-अध्याय

महात्मा गाँधी के नैतिक विचार तथा उस पर वेदान्त का प्रभाव

<u>महात्मा गाँधी के नैतिक-विचार</u> :

यदि मानव जाति के इतिहास को मानव और नैतिक मूल्यो के वृतान्त के रूप मे माना जाये तो उसमे महात्मा गाँधी का बहुत ऊँचा स्थान है । वे अपने अभ्यन्तर हृदय से मानवीय थे । उनकी करूणा केवल मनुष्य तक ही सीमित नही थी, बल्कि पशु-जगत् और वनस्पति जगत् के लिये भी थी । गाँधी जी यह मानते थे कि प्रकृति सुन्दर तो है ही उदार भी है, और सौन्दर्य का मर्म निहित है सत्य और अहिंसा मे वे विश्व बन्धुत्व के हिमायती थे उन्हे वे सुख और शाति का मूल श्रोत मानते थे ।

गाँधीजी ने लिखा है - "मै नहीं चाहता कि मेरे घर को कूड़ा-करकट भरते रहने के लिये, मेरी खिड़कियो के समेत चारो ओर से दीवार खड़ी कर बन्द कर दिया जाये, मै तो चाहता हूँ कि सभी देशों की सस्कृतियाँ मेरे घर के आस-पास जहाँ तक हो सके मुक्त भाव से विचरण करती रहें, किन्तु मै ऐसा नही होने दूँगा कि कोई सस्कृति मुझे अपने प्रवाह में बहा ले जाये ।"[1]

यही गाँधीजी के मानववाद, विश्व जनीनता, नैतिक विचारधारा और व्यक्तित्व का सार-तत्व है । गाँधीजी के अनुसार नैतिकता जीवन का आधार है । व्यक्ति और समाज का अस्तित्व एवं उसकी प्रगति नैतिकता पर ही है । हमारे अन्तर्मन मे यही सघर्ष तथा सहार की भावनाओ और प्रवृत्तियों को दबाकर परोपकार, शान्ति, सुख एव सामन्जस्य को प्रोत्साहित करती है । इसलिये नैतिकता की सर्वोत्कृष्टता है उसका अतिजीविता मूल्य । मानव विकास की दीर्घ प्रक्रिया मे यह धीरे-धीरे विकसित होती गयी है । आज यह मानव प्रकृति का एक अग बन गयी है । इसलिये नैतिक सवित्त या अन्र्तविवेक मानव का आभ्यन्तरिक पथ-प्रदर्शक बन गये ।

मानव-जीवन का चरम-लक्ष्य ईश्वर साक्षात्कार है । किन्तु, ईश्वर तो

---

1 यग-इण्डिया, 1921

अमूर्त तत्व है । वह तो 'सत्य' या 'सत्ता' के रूप मे मानव की अपनी आत्मा और ससार की सभी चीजो मे विद्यमान है । सचमुच वह सभी चीजो की सर्वाधारभूत सत्ता है । हाँ, वह निर्जीव की अपेक्षा सजीव मे और सभी जीवधारियो की अपेक्षा मनुष्य मे सबसे अधिक अभिव्यक्त है । इसलिये अपनी आत्मा और मानव मे ईश्वर का दर्शन ही ईश्वर-साधना का सर्वोत्तम मार्ग है ।

प्रत्येक व्यक्ति ईश्वरीय विधान मे अपनी एक अहम् सत्ता रखता है । प्रत्येक व्यक्ति कुछ अच्छे, बुरे, स्वार्थी और निस्वार्थी प्रवृत्तियो को लेकर जन्म लेता है । उसे सुधार करना चाहिये और धीरे-धीरे अपने क्षुद्र अस्तित्व को अनन्त आत्मा और परमात्मा से एकाकार करना चाहिये । यह तभी हो सकता है जब हम अपने स्वार्थ को छोडकर परार्थ-भावना की ओर प्रवृत्त हो । इसलिये आत्मा साक्षात्कार या ईश्वर - साक्षात्कार दूसरो के प्रति प्रेम भाव और उसके अनुसार कर्तव्य पालन करने से होगा । इस प्रकार नैतिकता "धर्म का सारतत्व" कहा जा सकता है ।

अहिंसा :

नैतिकता तथा धर्म-परिपालनार्थ अपेक्षित सिद्धान्तो मे अहिंसा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । अहिसा का शाब्दिक अर्थ है "किसी की हत्या न करना" गाँधीजी अहिसा का आशय केवल शारीरिक क्षति पहुँचने तक ही सीमित न था किसी भी जीव के प्रति शारीरिक , मानसिक या अन्य किसी भी प्रकार की हिसा के विरोधी थे । **ईश्वर और सत्य को समझने तथा प्राप्त करने के लिये प्रेम सबसे बड़ा साधन है । अहिंसा को भावनात्मक रूप से हम "प्रेम" भी कह सकते हैं । प्रेम के माध्यम से जीवात्मा अपने क्षुद्र स्वार्थ को छोड़ता जाता है ।** यह मेरे-तेरे का भेद मिटाता है **और व्यक्ति को परार्थ तथा परोपकार की ओर ले जाकर अन्त में सर्वव्यापी ईश्वर के समीप ला देता है ।** मानव के अन्दर प्रेम सचमुच एक दैवी नियम है । मानो, **प्रेम के रूप में परमात्मा का ही मानव हृदय में निवास होता है ।** इस ईश्वरीय गुण के बिना मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थो मे ही लीन

रहता है । जो शक्ति प्रेम मे है वह किसी और मे नही है । इसलिये जो काम बड स बडे तर्क और बल प्रयोग से नही हो सकता, वह सहज ही प्रेम द्वारा सिद्ध हो सकता है। अपने मानव बन्धुओ के प्रति हमारे कर्तव्य के मूल मे भी प्रेम ही है । प्रेम भावना के कारण हमारा कर्तव्य–पालन भी सुखद हो सकता है । प्रेम का हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रवेश है । वह हमारा जीवन रसमय और सगीतमय बना देता है । इसीलिये उन्होंने कहा कि -- "मेरा जीवन समग्र रूप से चलता है, जिसमे सब प्रकार की प्रवृत्तियो के लिये स्थान है । उन सबों से मेरा इसलिये सम्बन्ध है कि मुझमे समग्र मानवता क लिये प्रेम है ।"[1] फिर उन्होने कहा कि "मेरे लिये तो प्रेम का नियम ही प्रकृति का नियम है ।"

ज्ञान :

भावना और प्रेम का अधिष्ठान ज्ञान होना चाहिये । अप्रबुद्ध प्रेम तो एक प्रकार की पाशविक वासना है । जिसका सम्बन्ध हमारे शरीर से रहता है । **ज्ञान ही प्रेम को वासना से अलग करता है । जब मनुष्य अपना सही स्वरूप भूल जाता है, तब वह इसी स्थूल रक्त–मांस के शरीर से उत्पन्न तृष्णा और वासना का शिकार हो जाता है । वह तब अपने को शरीर रूप ही समझने लगता है ।** किन्तु, **जब उसे आधारभूत सत्ता और इसके माध्यम से इसी से सम्बन्धित सम्पूर्ण जगत् का तत्व–ज्ञान होता है, तो फिर उसका प्रेम शरीर की क्षुद्र सीमा को तोड़कर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो जाता है । इसलिये प्रेम की भावना और सत्य का ज्ञान एक दूसरे की मदद करते हैं । सत्य के बिना प्रेम अन्धा और वासनात्मक बन जाता है, उसी तरह सत्य भी प्रेम के बिना गगन–बिहार मात्र ही बनकर रह जाता है ।**

इसलिये गाँधीजी नैतिकता के परिपालन के लिये भी **ज्ञान–साधना** पर अधिक बल देते है । अन्धविश्वास या परम्परा के कारण केवल नैतिकता के नाम पर मन्त्रवत

---

1 यग–इण्डिया, पृष्ठ सं0 – 42

कुछ कर देना ही वास्तविक नैतिकता नहीं है । नैतिकता मे तो सचेतन और कृत निश्चय सकल्प चाहिये । उन्होने इसी को समझाते हुये कहा है – "कोई भी काम जो ऐच्छिक नही है नैतिक नही कहा जा सकता । जब तक हम कोई कार्य यन्त्रवत करते रहेगे उसमे नैतिकता का प्रवेश नही होगा । कोई काम तभी नैतिक कहा जा सकता है जब हम उसे सोच–समझकर कर्तव्य–भावना से करते है । जो काम भय या बल प्रयोग के कारण होता है, वह कदापि नैतिक नही कहा जा सकता ।"[1]

कोई काम अच्छा तभी कहा जायेगा जब हमे उसके पीछे की प्रेरणा और उस कार्य की परिस्थिति तथा उसका अपने बन्धु–बान्धवो पर प्रभाव आदि का ज्ञान हो जाये । इसलिये गाँधीजी के नीति–दर्शन मे आत्म–नियन्त्रण तथा आत्म–विश्लेषण का बहुत बडा स्थान है । हर व्यक्ति को किसी भी कार्य को उत्पन्न करने वाली अपनी अभिप्रेरणा के विषय मे सावधान एवं सजग रहना चाहिये । हमारी इच्छाएँ और प्रेरणाएँ दो प्रकार की हो सकती है । स्वार्थपूर्ण और निस्वार्थ । सभी स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ अनैतिक हैं । जबकि परोपकार के लिये की जाने वाली हमारी प्रत्येक क्रिया सच्चे अर्थ मे नैतिक है । आत्मविश्वास के माध्यम से हम अपने स्वार्थमय प्रेरणाओ को संयमित और नियन्त्रित कर सकते है । आत्म–विश्लेषण के बिना आत्म–शुद्धि भी सम्भव नही है । गाँधीजी का किसी व्यक्ति या संस्था से जब भी कुछ मतभेद या विरोध होता था तो सबसे पहले वह अपना आत्म–विश्लेषण कर यह पता लगाते थे कि उनकी ओर से क्या गलतियाँ हुई है । कही उनकी प्रेरणा में तो कोई दोष नही है । और जब वे अपने मे कोई दोष पाते थे फिर उसे स्वीकार कर उसे दूर करने का सच्चा प्रयत्न करते थे ।

किन्तु कुछ आधुनिक मनोविज्ञानियो की तरह गाँधीजी इस बात को जानते थे कि हमारा आत्म–विश्लेषण भी कभी–कभी गलत हो सकता है । दूसरे व्यक्ति हमारे आचरण और व्यवहार को देखकर, सम्भवतः हमारी प्रवृत्तियों और प्रेरणाओ को अधिक अच्छी तरह जान सकते है । इसलिये इस सम्बन्ध मे वे दूसरों के परामर्श का भी आदर करते थे ।

---

1 यग–इण्डिया, पृष्ठ स0 – 47

उनका कहना था – "हमे अपने बारे मे उस तरह से भी देखना और सोचना चाहिये जैसा दूसरे लोग हमारे विषय मे सोचते है।"[1]

इस तरह यह स्पष्ट है कि ज्ञान एक अच्छे और सफल नैतिक जीवन के लिये सभी दृष्टियो से आवश्यक है।

आत्म–स्वान्त्र्य :

गाँधीजी एव अन्य नैतिकता–वादियो के अनुसार आत्म–स्वातन्त्र्य नैतिकता का एक अनिवार्य आधारभूत सिद्धान्त है, किन्तु महात्मा जी स्वीकार करते है कि मनुष्य पूर्णत स्वतन्त्र नही है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ अपनी सीमाएँ है। उनको उन्हे समझना एव जानना चाहिये और फिर अपनी सम्भावनाओ एव शक्तियो का विकास करना चाहिये। हमारे सभी अभाव पूर्ण–रूप से दूर नहीं हो सकते, क्योंकि प्रकृति के नियमो के कारण भी हमारी सीमाएँ हमे बाँधती हैं। किन्तु, यदि मनुष्य चाहे तो इन नियमो को समझकर उनके अनुरूप अपने जीवन का परिचालन कर प्रकृति का लाभ ले सकता है। मनुष्य अपने कर्मों के माध्यम से भी कुछ अभ्यास और कुछ प्रवृत्तियो का अर्जन कर लेता है और फिर वही जीवन मे करने लग जाता है। जिन प्रवृत्तियो एव सस्कारो को लेकर मनुष्य जन्म लेता है, और फिर वही जीवन में करने लग जाता है। जिन प्रवृत्तियो एव सस्कारो को लेकर मनुष्य जन्म लेता है, भारतीय दार्शनिको के अनुसार, वे सब उनके पूर्व जन्मो के कर्मो का फल है। किन्तु इन सब सीमा–बन्धनो के बावजूद मनुष्य को अपने क्षेत्र मे अपनी सकल्प शक्ति के द्वारा शरीर, मन और वातावरण को प्रभावित करने का काफी अवसर है। इस प्रकार वह चाहे तो अपनी परिस्थितियो को बदल सकता है और अपने अभ्यासो मे परिवर्तन लाकर अपनी नियति का निर्माण कर सकता है।

आत्म–शक्ति :

किन्तु, मनुष्य को सबसे अधिक शक्ति अपनी आत्मा से मिल सकती है, बशर्ते

---

1 आत्म–कथा – पृष्ठ सं0 – 342

उसे विश्वास हो और इस दिशा मे वह कृत–सकल्प हो । मनुष्य की दुर्बलता और निरीहता का मुख्य कारण उसकी अहबुद्धि अहकार है । यह उसे सम्पूर्ण सत्ता से पृथक करता है। ऊपर से विचार करने पर यह हमारी अहबुद्धि हमे शक्ति का अपूर्व श्रोत प्रतीत होती है और हमे लगता है कि शक्ति और सफलता पाने का एकमात्र वही राजमार्ग है, किन्तु यह एक अर्धसत्य है । जो व्यक्ति घोरतमस मे पडा है और जो स्वय अपनी शारीरिक एव मानसिक शक्तियो का उपयोग नही कर सकता है, उनके लिये कुछ हद तक आत्माभिमान आवश्यक और शायद उपयोगी भी है । किन्तु, जिसको अपने शरीर और मस्तिष्क पर पूर्ण रूप से अधिकार ही नही, अपितु यह भी अनुभूति है कि वह सर्व–व्यापक, सर्व–शक्तिमान सत्ता का ही एक अश है, उसे मानवता की सेवा करने के लिये असाधारण शक्ति प्राप्त होती है । ऐसे व्यक्ति को अपने मे अखण्ड विश्वास रहता है, क्योकि वह तो अपने या दूसरे को भी उसी विश्व सत्ता का अंश मानता है । दूसरो के लिंये उसके हृदय मे अपार प्रेम भरा रहता है । इसी के कारण वह सभी की सेवा भी कर सकता है । सभी को आदर्श की ओर नित्य नूतन शक्ति से अग्रसर होने के लिये प्रेरित करता हुआ उन्हे अपेक्षित नेतृत्व, प्रदान करता है । गाँधीजी इसको 'आत्म-बल' की सज्ञा देते हैं जो 'पशुवत' से भिन्न है।

पशुबल अहंकार पर आधारित है जिसके कारण सघर्ष और दुख उत्पन्न होते है । आत्मबल प्रेम, विश्वास और विनम्रता पर टिका रहता है, जिससे सामञ्जस्य और सुख मिलता है । गाँधीजी विनयशीलता पर अधिक जोर देते है । सच्ची विनयशीलता कृत्रिम नम्रता से बहुत ही भिन्न है । सच्ची विनयशीलता तो मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है, जो ईश्वर और मानवता से अलग अपने को सचमुच अत्यन्त असहाय एव तुच्छ अनुभव करती है । यह भावना तो मुख्य रूप से उस व्यक्ति में मिलेगी जिससे भगवान की इच्छा के आगे अपने को समर्पित कर, अपने को केवल उसका वंशवद मान लिया है।

<u>आत्म–समर्पण के माध्यम से कर्तव्य पालन</u> :

भगवान के हाथो में अपने को पूर्णरूपेण सौप, निमित्त मात्र बनकर काम करने

के लिये अपनी समस्त स्वार्थ बुद्धि एव स्वार्थमय प्रेरणाओ का परित्याग करना ही शरणागति या प्रपत्ति योग है । इसके लिये हमे "अधिक से अधिक व्यक्तियो के अधिक से अधिक कल्याण" की कामना रखनी होगी । इसी से मनुष्य अपने स्वार्थ के निरन्तर बढत हुय बन्धनो से मुक्त हो सकेगा । साथ ही, वह जीवन मे मिलने वाली सामान्य सफलता से न तो फूल ही उठेगा और न असफलताओ से अवसाद मे डूब जायेगा । इस तरह वह कर्तव्यपथ पर शान्त और अनुद्विग्न होकर अग्रसर होता चला जायेगा । इससे कर्म मे अदभुत कौशल और साफल्य तो मिलेगा ही, साथ ही साथ कर्त्ता शान्त सकल्प एव प्रसन्न रहेगा ।

इस स्थिति को 'समभाव' कह सकते है । इसका उपदेश स्पष्ट रूप से गीता मे मिलता है, जिसे गाँधीजी ने ग्रहण किया है । इसलिये गाँधीजी का यह आदर्श वाक्य था – 'भगवान की इच्छा के अनुसार निमित्त मात्र बनकर कर्तव्य–पालन करना चाहिय ।' गीता मे भी कहा गया है – "निमित्त मात्र भव सव्यसाचिन् ।" गाँधीजी के लिये यही सच्चा त्याग था । ससार से या अपने कर्तव्य से हमे पलायन नही करना चाहिये । हमे तो बस कर्म फल की वासना त्याग देनी चाहिये । जो सुख के पीछे जितना ही अधिक दौड़ेगा, वह कर्म करने मे उतनी ही कम शक्ति प्रदान कर सकेगा । हमे तो बस कर्तव्य का पालन करना चाहिये और फल तो ईश्वरेच्छा पर सौप देना चाहिये । कहा भी गया है – "सबसे पहले ईश्वर और उनके गुणो को ढूढों, फिर तो तुम्हे सब कुछ प्राप्त हो जायेगा ।" यदि कर्तव्य का ठीक–ठीक पालन हुआ तो फिर उत्तम फल ही मिलेगा । आखिर सृष्टि मे उसी ईश्वर का नियम चल रहा है ।

किन्तु ईश्वरेच्छा का क्या अर्थ है ? मानव समाज मे एकता की स्थापना के लिये तथा उसको अराजकता एव सर्वनाश से बचाने के लिये प्रेम सहानुभूति और सामञ्जस्य ही वो मानव–वृत्तियाँ है, उन्ही को हम ईश्वर की सज्ञा दे डालते है । हमारी अन्तरात्मा या हमारी कर्तव्य भावना ही हमे ईश्वरीय शक्ति का दिशा–निर्देश करती है । इसलिये हम इसको ईश्वर की आवाज भी कह सकते हैं । ईश्वर के निमित्त काम करने का अर्थ यही है – हम अपने अर्न्तविवेक को जाने और पहचानें । जो ऐसा कर सकता है, वह सबो

के लिये मगल ही सोचता है । वह केवल अपने तुच्छ स्वार्थो से नही लिपटा रहता । व्यक्ति का सच्चा कल्याण सबो के कल्याण मे निहित है । सब मे वह स्वय भी शामिल है ही ।

ईश्वर की सज्ञा हम उसे भी दे सकते है जो चिरतन सत्य एव नित्य सच्चा स्वरूप है । जन्म, मृत्यु और अपक्षय आदि का उस पर कोई असर नही होता । ईश्वर के लिये काम करने का अर्थ है कि हम इस नित्य अविनाशी सत्ता के लिये ही काम करे। मनुष्य को ऐसा सोचकर सचमुच शक्ति मिलती है कि वह मृत्यु एव विनाश से ऊपर नित्य सत्ता का ही एक अग है । गाँधीजी स्वय कहते है – "हम लोग मृत्यु के बीच जी रहे है । हम अपनी योजना के लिये कुछ करे भी तो इसका क्या अर्थ है ? क्योंकि, 'ममेच्छादीप च मे नास्ति हरेरिच्छा बलीयसी ।' किन्तु यदि हम सोच लेते है कि हम लोग भगवान की इच्छानुसार उन्ही की योजना पूरी कर रहे है तो हमारे अन्दर एक असाधारण शक्ति आ जाती है ।

तेजस्विनी नम्रता एवं शांति :

जब हम नित्य और शाश्वत सत्ता के प्रति अपना सेवामय जीवन समर्पित कर देते है तो फिर हमारा अभियान भी स्वत मिट जाता है और फिर एक स्वय स्फूर्ति तेजस्विनी, नम्रता निसृत होती है । हमारा सकीर्ण स्वार्थ सर्वव्यापक स्वार्थ में बदल जाता है, जिसे हम परमार्थ कहते है । हमारी, असहायवस्था समाप्त हो जाती है । सम्पूर्ण सत्ता को अभियन्त्रित करने वाली विश्व जीवन की भावना में हमे बल मिलता है । फिर तो हमारी स्वार्थ भावना दूर हो जाती है । निस्वार्थ कर्म से अनत सुख और निरतर सेवा से अखण्ड शान्ति प्राप्त होती है ।

इसलिये गाँधी कहते है – "सेवामय जीवन नम्रता से भरा हुआ होता है । सच्ची नम्रता सचमुच लोकसंग्रह ही भावना से किया गया पूर्णरूपेण दृढ़ एव निरन्तर कर्मयोग

है । ईश्वर अविराम कर्मरत है । इसलिये यदि हम उनकी भक्ति करना सोचत है या फिर उन्ही मे तदाकार हो जाना चाहते है तो हमे भी निरन्तर कर्म की साधना करनी होगी । यही कठोर साधना हमारे लिये सच्चा विश्राम होगा । यही अविराम कर्मयोग हमारी अवर्णनीय शान्ति की कुजी होगी ।"[1]

उक्त बाते गाँधीजी ने सत्याग्रह आश्रम नामक अपनी सेवा सस्था का आदर्श निरूपित करते हुये कहा था । निरन्तर सेवा से भरा हुआ उनका सम्पूर्ण जीवन इसी आदर्श को सामने रखते हुये अपने व्यक्तिगत एव सार्वजनिक जीवन मे इसके प्रयोग की सम्भावना को प्रकट कर रहा है । नैतिकता के मानदण्डस्वरूप गाँधीजी ने कतिपय सूत्र निर्धारित किये थे ।

नैतिकता के कुछ सूत्र :

जिन्हे उन्होने अपने जीवन मे अत्यन्त उपयोगी माना था । वे इस प्रकार है –

(क) सर्वोदय :

सर्वोदय का अर्थ है सभी का अभ्युदय या विकास । गाँधीजी एक-एक जन के उदय के लिये चिन्तित थे । केवल कुछ खासवर्ग के लोगो द्वारा उन्नति कर लेने पर भी जब तक कोई भी वर्ग अविकसित है तब तक हमारा अभ्युदय अपूर्ण है ।

गाँधीजी की दृष्टि मे सेवा का आदर्श ऊँचे से ऊँचा होना चाहिये । हम दुर्बल प्राणी है । थोड़े से छिद्र मिलने पर ही हम स्वभावत स्वार्थ और आलस्य आदि मे फँस जाते है । "अधिक से अधिक व्यक्तियो का अधिक से अधिक सुख" का उपयोगितावादी सिद्धान्त गाँधीजी को प्रभावित नही कर सका है । प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर सुख-प्राप्ति की इच्छा ही उपयोगितावादी दर्शन का मूलाधार है । इसलिये तार्किक-दृष्टि से तो उपयोगितावादी विचारकों को तो स्वयं कभी कोई त्याग नही करना चाहिये । किन्तु,

जो अपना नैतिक आदर्श व्यक्ति के सुख और स्वार्थ पर आधारित नही कर अपने अन्दर के प्रेम और तर्क पर आधारित करता है, वह सभी के कल्याण मे अपना भी कल्याण देखता है । इसलिये उसका आदर्श सर्वोदय का होना चाहिये । गाँधीजी ने इस सिद्धान्त पर इतना जोर इसलिये भी दिया था कि जनतान्त्रिक प्रशासन मे, जहाँ सख्या बल ही सब कुछ है, बहुमत के द्वारा अल्पमत के हितो की उपेक्षा का हमेशा भय रहता है । खासकर यह तब और भी प्रखर रूप से प्रकट होगा जब हमारे मानस मे अधिक से अधिक लोगो के ही कल्याण का आदर्श रहेगा सर्वोदय का नही । अत सर्वोदय के उच्च आदर्श की साधना 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से ही होगी ।

(ख) आदर्श हमेशा हमसे दूर ही रहता है :

यद्यपि गाँधीजी अपने आदर्शों को ऊँचा रखना चाहते थे, फिर भी वे इस बात को हमेशा जानते थे कि आदर्श तक पहुँचना सम्भव नही । शकर अद्वैतवाद के विपरीत, किन्तु ईश्वरवादी वेदान्तियो एवं पाश्चात्य आध्यात्मिकवादियो की तरह गाँधीजी यह मानते थे कि मानव पूर्ण नही हो सकता । वे इसकी व्याख्या स्वय बार-बार दुहराते है – "मानव-शरीर मे पूर्ण होना असम्भव है । शरीर-धारण करते हुये मानव अपने अहकार का पूर्ण निरसन नही कर सकता । इसलिये पूर्णता की स्थिति हमेशा हमसे दूर रहती है । पूर्णता की ओर हम जितना अधिक प्रगति करेगे, उतना अधिक हम अपनी तुच्छता का अनुभव करेगे । इसलिये हमे तो अपने पुरूषार्थ मे नही । सचमुच, पूर्ण प्रयत्न ही पूर्णता है ।"[1] इसलिये मानव का यह कर्तव्य है कि वह निरन्तर अधिक से अधिक प्रगति करता रहे । अन्यथा वह कभी भी पूर्णता को प्राप्त नही कर सकता ।

अप्राप्तव्य आदर्श की आवश्यकता जीवन मे इसलिये है कि हम अधिक से अधिक प्रयत्नशील रहे और निरतर प्रगति के पथ पर बढते रहें । जैसा कि कहा गया है, "यदि हमे किसी तेज धारा को पार करना है तो हमें जहाँ दूसरे पार पहुँचना है, उससे काफी आगे का बिन्दु ध्यान में रखकर तैरना होगा ।" इसी उपमा को गाँधीजी थोडा बदल कर

---

1 यग-इण्डिया – 9 मार्च 1922, 4 सितम्बर, 1928

कहते है कि सरल रेखा जैसी ज्यामितिशास्त्र की किसी आदर्श आकृति को हम वास्तविकता मे उतार नही सकते है, फिर भी हमारा आधार तो वही रहता है । अत यद्यपि हमारा आदर्श हमेशा अप्राप्तव्य है, फिर भी हम अपने जीवन मे हमेशा उसी से प्रेरणा लेगे । **गाँधीजी के अनुसार** – "कोई भी शरीर धारी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता, मात्र इस कारण अहकार का पूर्ण त्याग किये बिना आदर्श स्थिति सम्भव नही है, और जब तक वह हाड–मास वाले शरीर से बधा है, अहकार का पूर्ण त्याग नही हो सकता । लक्ष्य हमेशा दूर भागता जाता है । जितनी ही प्रगति हम करते जाते है, उतनी ही अपनी अयाग्यता का भान होता जाता है सतोष प्रयत्न मे है, प्राप्ति मे नही । पूर्ण प्रयत्न पूर्ण विजय है ।"[1]

(ग) मेरे लिये एक कदम ही काफी है :

आदर्श प्राप्ति की अपनी अविराम साधना मे हमे वर्तमान की आवश्यकताओ को विस्मृत नही करना चाहिये, उसी के माध्यम से हम आदर्श प्राप्त कर सकते है ।" भविष्य तो अज्ञात है । इसलिये हमे केवल वर्तमान की ही चिता करनी चाहिये जो हमारे हाथो मे है । जब हम वर्तमान का सदुपयोग कर ले तभी भविष्य मे अपनी प्रगति की बात सोच सकते है । इसलिये हमे वर्तमान मे जो कुछ करना चाहिये, खूब सोच–समझकर करना चाहिये । इस सूत्र से गाँधीजी के व्यावहारिक वास्तववाद के साथ–साथ उनके उदान्त आदर्शवाद का परिचय मिलता है । वे बराबर कहा भी करते थे – "मै व्यावहारिक आदर्शवादी हूँ ।"

(घ) साधनों का सबसे बड़ा महत्व है :

कर्मवाद के अनुसार हमारा वर्तमान कर्म हमारे भविष्य का निर्धारण करता है । यदि किसी का वर्तमान कर्म अनैतिक है तो वह उसे पतित करेगा, उसके अभ्यासों और संस्कारो को बिगाड़ देगा, इसलिये उसका जीवन सौम्य और सुन्दर नही हो सकता । **विलियम जैम्स ने ठीक ही कहा है,** "हमारी अच्छी आदते हमारे जीवन की सबसे बड़ी

---

1 टालस्टाय एन0के0 बोस – सेलेक्स फ्राम गाँधी, पृष्ठ – 930

पूँजी है । अशुद्ध साधनो से कभी–कभी हमे जो शानदार सफलता मिल जाती है वह वास्तव मे सच्ची सफलता नहीं है । यदि मनुष्य की आत्मा ही दब गयी तो फिर उसकी समस्त सफलताएँ बेकार है ।"[1] इसलिये **गाँधीजी ने कहा"** "लोग भले ही कहे कि साधन तो आखिर साधन ही है, लेकिन मै तो यही कहूँगा कि साधन ही सब कुछ है । साधन और साध्य के बीच वस्तुत कोई अन्तर नही ।"[2] गलत साधन से कभी भी अच्छा साध्य प्राप्त नही किया जा सकता । इसलिये यह सोचना हमेशा ही व्यर्थ होगा कि गलत साधन से भी अच्छे साध्य प्राप्त हो सकते है । जितने भी साधन है, वस्तुत उनका उपयोग तो मनुष्य को नैतिक दृष्टि से अधिक अच्छा बनाने के लिये होना चाहिये । अत अशुद्ध साधनो का उपयोग अनैतिक है । **बाइबिल ने कहा है** – "सम्पूर्ण ससार का साम्राज्य मिल जाने से भी हमारा क्या लाभ होगा, यदि हमारी आत्मा ही दब गयी ?"[3] नैतिक जीवन के लिये गाँधीजी ने यह सूत्र इसलिये स्वीकार किया ताकि स्वतन्त्रता प्राप्त के आन्दोलन मे हिसा और घृणा पर आधारित कोई भी पद्धति नही अपनायी जाये । वे इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि गलत साधनो के आधार पर क्षणिक सफलता राष्ट्र को बाद मे नीचे गिरायेगी और उसे रक्तपात और सर्वनाश के अनन्त चक्र मे ढकेल देगी ।

(च) अधिकार नहीं, कर्तव्य :

गाँधीजी अपने राजनीतिक कार्यक्रमो मे लोगो को हमेश उपदेश देते थे कि अधिकार की चिता न कर हमे सच्ची निष्ठा से कर्तव्य करना चाहिये । उनका विचार था –

"अगर सब लोग केवल अधिकारो का आग्रह रखे और कर्तव्यो पर जोर न दे, तो चारों तरफ बड़ी गडबडी और अव्यवस्था फैल जायेगी । यदि अधिकारों के आग्रह के बजाय हरएक व्यक्ति अपना कर्तव्य पालन करे, तो मानव जाति मे तुरत व्यवस्था का

---

1. विलियम जेम्स
2. सर्वोदय, पृष्ठ – 6
3. बाइबिल

राज्य स्थापित हो जाये । यदि आप यह सादा और सार्वत्रिक नियम मालिका और मजदूरो, जमीदारो और किसानो, राजाओ और उनके प्रजाजना या हिन्दुओ और मुसलमाना पर लागू करे तो बस आप देखेगे कि भारत और ससार के दूसरे भागो मे जीवन और व्यवसाय मे आज जैसी अशान्ति और अस्तव्यस्तता पायी जाती है, उसके स्थान पर जीवन के तमाम क्षेत्रो मे अत्यन्त सुखद सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते है । जिसे मै सत्याग्रह का कानून कहता हूँ, वह कर्तव्यो को पूरी तरह समझने और उनसे पैदा होने वाले अधिकारो से उत्पन्न होगा ।"[1]

(छ) **मनुष्य और उसके कर्म, दोनों दो चीजें हैं** :

गाँधीजी इस सूत्र का स्वय भी पालन करते थे और अपने साथियो को भी इसके पालन की उस समय सलाह देते, जब उनमे किसी व्यक्ति सस्था या व्यवस्था के कुकर्मो और अन्यायो से जूझना पडता था । मानव की अन्तर्निहित साधुता मे विश्वास रखते हुए, गाँधीजी ईसामसीह की भाँति पाप से घृणा करते थे, पापी से नही । इसलिये उन्होंने अन्यायी तथा उसके अन्याय मे बराबर भेद किया और बराबर प्रयत्न किया कि अन्यायी का हृदय-परिवर्तन हो । ब्रिटिश सरकार से भी सघर्ष करते हुये उन्होने इसी मत्र को सामने रखकर कहा – "हमे अग्रेजो से नही, अग्रेजी राज्य से विरोध है ।"[2] इस कारण बहुत सारी कटुता दूर होती गयी ।

(ज) **अपने को सुधारो** :

इस महत्वपूर्ण सूत्र को गाँधीजी ने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन मे अत्यधिक उपयोगी मानकर उनका व्यवहार किया । वे इसमें अच्छी तरह विश्वास करते थे कि जो व्यक्ति अपना सुधार नहीं कर सकता है, वह दूसरे का सुधार कदापि नही कर सकेगा – 'पर उपदेश कुशल बहतेरे ।' इसलिये हजार उपदेशो से एक सदाचार अच्छा है ।

---

1. सर्वोदय, पृष्ठ – 7
2 आत्म–कथा -- पृष्ठ -- 74

फिर यदि कोई किसी दूसरे के आचरण को सुधारने के लिये प्रेम का मार्ग अपनाता है तो उसको आदर, विश्वास और प्रेम मिलेगा ही । किन्तु, यह तो तभी हो सकता है जब वह स्वय ईमानदारी से अपने दोषो को दूर करने का प्रयत्न करेगा । गाँधीजी ने यह भी अनुभव किया कि किसी व्यक्ति या राष्ट्र का अपना पाप और दोष दूसरो के अन्दर भी घृणा, लोभ, लूट और अन्याय आदि की पापमयी भावनाओ को जन्म देता है ।

अत इन बातो से जूझने के लिये, गाँधीजी प्रथम चरण मे आत्मविश्लेषण और उसके बाद आत्मशुद्धि किया करते थे । अपने राजनीतिक आन्दोलनो मे भी उन्होंने, इसी विधि का प्रयोग किया । बुद्ध की भाँति भारत की दुरवस्था के कारणो का निदान ढूँढते हुये उन्होने यह पाया कि इसके मूल मे साम्प्रदायिक भेद-भाव, पिछडी जातियो के प्रति सामाजिक अन्याय, आर्थिक परतन्त्रता, आवश्यक शिक्षा-दीक्षा का अभाव तथा सबसे ऊपर शासको का आतक था । उन्होने राष्ट्र के इस अभिशाप को दूर करने के लिये हृदय और आत्मा से देश के सभी भागो मे, सभी दिशाओ मे रचनात्मक कार्यक्रम चलाया । इसलिये उनके राजनीतिक आन्दोलनो के साथ-साथ राष्ट्र की आत्मशुद्धि के लिये रचनात्मक कार्यक्रम भी चले थे ।

(झ) **मुख्य सद्गुण** :

विचार की विविधता किन्तु आचार की एकता भारतीय दर्शन और सस्कृति की विशेषता रही है । भौतिकवादीचार्वाक को छोडकर सभी यह विश्वास करते थे कि यह ससार चाहे ईश्वर के द्वारा चलता हो या स्वत चालित हो, लेकिन यह नैतिकता और धर्म के आधारभूत मूल्यों पर ही टिका हुआ है । 'जैसा बोओगे, वैसा काटोगे ।' अच्छे काम का फल अच्छा होगा और बुरे काम का फल बुरा होगा ।' यही कर्मवाद है जिसे भारतीय दर्शन और धर्म ने एक स्वर से स्वीकार किया है । गाँधीजी भी कर्मवाद के इस नियम में विश्वास करते थे और एक अच्छे नैतिक जीवन के लिये इससे प्रेरणा ग्रहण करते थे । इसी कारण वे कर्मफल की वासना से अनुद्विग्न होकर सदैव 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य'

करते रहे । इसकी तुलना हम काण्ट के विचारो से कर सकते है ।

भारतीय विचारको मे इस बात पर प्राय सहमति है कि अहिसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे कुछ मुख्य सद्‌गुणो को हमे अवश्य अपने जीवन मे स्थान देना चाहिये । ये पच महाव्रत उपनिषद, बौद्ध, जैन, योग आदि प्राय सभी का स्वीकार्य है । मनु ने सामान्य-धर्म और विशेष धर्म की चर्चा की है और धर्म के दस लक्षणा मे इन पंच महाव्रतो मे अहिसा, सत्य और अस्तेय को स्वीकार करते हुये शेष दो म शौच और इन्द्रियनिग्रह को स्थान दिया है ।

गॉधीजी ने परम्परागत पॉच सद्‌गुणो को स्वीकार करते हुये अपने अध्ययन और अनुभव के अनुसार उनकी व्याख्या की है ताकि देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उनका जीवन मे व्यवहार हो सके । अपने और अपने आश्रमवासियो के लिये तो उन्होने इन पॉच व्रतो मे कुछ और भी व्रतो को जोड़ दिया टालस्टाय द्वारा प्रदत्त बाइबिल के धर्मादेशो की व्याख्या ने गॉधीजी को बहुत प्रभावित किया और उसी के आधार पर उन्होने पच महाव्रतो की अपनी व्याख्या भी प्रस्तुत की ।

इन महाव्रतो या अन्य किसी सिद्धान्त का पूर्ण आचरण करने के लिये गॉधीजी ने 'मनसा, वाचा, कर्मणा, का सुप्रसिद्ध फार्मूला माना । बाइबिल के उपदेशा क मूल मे भी यही है । किसी अच्छे या बुरे कर्म का सूक्ष्म रूप मे प्रारम्भ मन से ही होता है । फिर वह वचनो मे प्रकट होता है और अंत मे वह शारीरिक चेष्टा के रूप मे शारीरिक क्रिया बनकर अभिव्यक्त होता है । इसलिये ईसामसीह ने कहा है कि जिसने मन मे कामवासना को स्थान दिया वह तो सचमुच व्यभिचार कर चुका । मानव जीवन के विभिन्न स्तरो मे कोई भेद नही है । विचार, वाणी और व्यवहार मे शुद्धता लाये बिना जीवन शुद्ध नही हो सकता । जब तक किसी कार्य को अन्दर से निर्बीज नही किया जायेगा, तब तक उनके बीज फिर अलक्ष्य रूप से अकुरित हो ही जायेगे । इसलिये मनसा, वाचा, कर्मणा

समग्र रूपेण शुद्ध रहने से ही असली शुद्धि होती है। यह विचार गाँधी के हृदय म अच्छी तरह से जमा था। उनके **लिये सत्य ही सब का सार है। ऐसी प्रवंचना के लिये कोई स्थान नही जिसके कारण मन में कुछ, विचार में कुछ और व्यवहार में बिल्कुल अलग बातें हों।** अपने सकल्प को शक्ति प्रदान करने के लिये और नैतिक-नियमा का पालन करने के लिये भी उन्होने व्रतो की साधना की।

नीचे हम यहाँ परम्परागत इन पाँच महाव्रतो तथा उनके परिपालन के लिय गाँधीजी द्वारा जोडे गये कुछ अन्य व्रतो की व्याख्या करेगे।

1. <u>अहिंसा</u> .

उपनिषद् एव मनुस्मृति के अनुसार अहिंसा का अर्थ साधारणत किसी प्राणी को कष्ट नही पहुँचाना या किसी का प्राण नही लेना ही है, किन्तु जैन-दार्शनिको ने अहिसा की कठोर व्याख्या की है - "सभी परिस्थितियो मे सभी प्राणियो के लिये मनसा, वाचा, कर्मणा हिसा का वर्णन।" इसलिये जैन भिक्षुओ के लिये फल--फूल जैसे निरामिष भौज्य पदार्थों का आहार ही निर्धारित किया गया है। दूसरी ओर मनु ने अहिंसा के सिद्धान्त को अधिक लचीला बनाते हुये यज्ञ और भोजन के लिये पशु-बलि तक की स्वीकृति दी। आत्मरक्षा के लिये तो उन्होने मनुष्य को मारने की अनुमति दी। उन्होंने यह अनुभव किया कि अहिंसा का आदर्श सचमुच अत्यन्त प्रशसनीय है, फिर भी इसका पूर्णरूपेण पालन समाज मे अत्यन्त ऊँचे उठे हुये कुछ ही व्यक्ति कर सकते है। इसलिये हमे साधारण लोगो के लिये ऐसे नियम को अवश्य ही कुछ ढीला बनाना होगा।

गाँधीजी का स्थान इन दोनो के बीच है। उन्होने लिखा है कि हिसा के विषय मे मनु द्वारा दी गयी छूट को वे स्वीकार नही करते है।"[1] इसलिये गाँधीजी का दृष्टिकोण

---

1 आत्म-कथा, पृष्ठ - 62

यहाँ टालस्टाय के समान है । हम जहाँ पहुँचना चाहते है, उससे कही आगे हमारा लक्ष्य होना चाहिये । मानव मे अनेक दुर्बलताएँ है । यदि हम उसे ढीला छोड देते है तो फिर वह और भी नीचे की ओर चला जायेगा । इसलिये उन्होने पूर्ण अहिंसा के आदर्श को ही पकडा । वे मनु की अपेक्षा जैनो के आदर्श के समीप थे । वे बचपन से ही जैनो से प्रभावित थे किन्तु व्यवहार मे गाँधीजी ने जैनो के अतिवाद को स्वीकार नही किया । वे मनुष्य की कीमत पर फसल नष्ट करने वाले कीडो को स्वच्छन्द रूप से बढने देने के पक्ष मे कभी नही थे । एक बार उनके आश्रम मे एक बछडा किसी असाध्य रोग से पीडित था साथ ही वह मरणातक पीडा से कराहने लगा । इस पर उन्होने डाक्टरो को यह सम्मति दी कि कोई जहरीली सुई देकर शीघ्र ही असाध्य पीडा से उसे मुक्ति दे दी जाय । इस कारण गाँधीजी को जैन-समाज और सनातनी हिन्दुओ का तीव्र आक्रोश सहना पडा । इसी तरह उन्होने कई बार ब्रिटिश-शासन को युद्ध मे सक्रिय सहयोग दिया, जिससे उनके अच्छे से अच्छे मित्रो एव कार्यकर्ताओ को घोर आश्चर्य हुआ । हम जानना चाहेगे कि उनके आदर्शों के विपरीत इन व्यवहारो का क्या औचित्य है ?

इस विषय पर वे अपना विचार रखते हुये ऐसे धर्म संकट का उल्लेख करते है । पूर्ण-अहिंसा मे विश्वास करने वाले व्यक्ति के सामने व्यावहारिक जीवन भी एक धर्म सकट है – "ज्ञात या अज्ञात रूप से स्थूल हिसा किये बिना मनुष्य एक क्षण भी जी नही सकता । चाहे वह हमारा भोजन हो या जल-ग्रहण या हमारा चलना या घूमना इन सबो मे कुछ न कुछ हिंसा होती ही है ।"[1]

यदि ऐसी बात है तो फिर हमे असभव आदर्श को छोड, जीवन की वास्तविकता को स्वीकार करना चाहिये । गाँधीजी यथार्थवादी थे, किन्तु वे वास्तविकता के नाम पर यथास्थिति को स्वीकार करने के लिये कत्तई तैयार नहीं थे । यह स्वस्थ वास्तववाद भी नही होता । सत्य के साधक होने के कारण वे मानव-हृदय मे प्रेम की सत्ता की उपेक्षा

---

1 आत्म-कथा, पृष्ठ – 135

नही कर सकते थे । प्रेम के कारण ही मानव इस हद तक विकास कर सकता है । अहिंसा तो मानव समाज का नियम है । अविचारपूर्ण क्रूरता के द्वारा मानव हृदय के अन्तर्गत इस दैवी वृत्ति को कुठित करना उसकी प्रगति को रोककर पृथ्वी पर नरक का मार्ग प्रशस्त करना है । हम इस दिव्य ज्योति को अपने हृदय मे जलाये रखे और प्रेम तथा करूणा के माध्यम से इसकी अग्नि-शिक्षाको प्रज्ज्वलित करते रहे । आदर्श के लिय प्रयत्न करना ही मानव के भाग्य मे बदा है । पूर्ण साधना ही पूर्ण सिद्धि है । काण्ट ने ठीक ही कहा है, "हमारी अच्छाई हमारे सकल्प की शुद्धता पर आश्रित है । निरपेक्ष रूप से यदि कुछ भी शुभ है तो वह शुभ-सकल्प ही है । हमारी सफलता अनेकानेक परिस्थितियो पर निर्भर है और उन सबो पर मेरा वश भी नही ।" फिर गाँधीजी कहते है - यदि अहिंसा के पुजारी की सभी क्रियाओ के मूल मे करूणा रहे, यदि वह क्षुद्र से क्षुद्र जीव का यथाशक्ति कष्ट पहुँचाने से बचता रहे और उसे बचाता रहे, तथा इस प्रकार हिंसा के चक्कर से निरन्तर दूर रहे तो फिर उसका विश्वास अहिसा मे अडिग हो जायेगा ।

इस विषय मे ध्यान देने योग्य कुछ बाते है -

1 अहिंसा के मूल मे करूणा और प्रेम है इसलिये अहिसा की सच्ची कसौटी हृदय के अन्दर है ।

2 यदि हम अपनी अतरात्मा के इस प्रेम की पुकार की उपेक्षा नही करे तो फिर हम किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नही पहुँचायेगे ।

3 यह सोचना गलत है कि चूँकि हम पूर्ण अहिंसा का पालन नही कर सकते है, इसलिये हम जितना भी कर सकते है, उतना भी न करे ।

4 अंत मे, हम कह सकते है कि प्रेम और करूणा को हम आचरण मे जितना ही स्थान देगे उतना ही अधिक अहिसा का हम पालन कर सकेगे । इस कारण हम नैतिक दृष्टि से उतना ही अधिक ऊँचे उठेगे और सचमुच सुखी भी रहेगे ।

तात्पर्य यह है कि सच्ची अहिंसा केवल जीवहिसा नही करना या बाह्य रूप से किसी को शारीरिक कष्ट देना ही नही है । यह तो हमारे अन्तस्तल की वस्तु हे ।

अत हमे अपने मस्तिष्क से क्रोध घृणा और प्रतिहिंसा की भावना का परित्याग करना ही होगा । जो इन कुत्सित भावनाओ को हृदय मे स्थान देता है और केवल बाहर से भय के कारण अहिंसक बना रहता है, वह सच्ची अहिंसा का पालन नही करता । वह कायर और प्रवचक है । अहिसा तो बहादुरो की चीज है, कायरो और कमजोरो की चीज नही। इसलिये गाँधीजी लिखते है – "अहिंसा का मेरा व्रत अत्यन्त सक्रिय और गतिशील है । इसमे कायरता और कमजोरो का कोई स्थान ही नही है ।" वे तो यहाँ तक कहते है कि "मै पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जहाँ मुझे हिसा और कायरता के बीच किसी एक को चुनना होगा, वहाँ मै हिंसा का ही चुनाव करूँगा ।"[1]

एक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से गाँधीजी यह सोचते है कि हिसा तो हमारे अन्दर के भय की अभिव्यक्ति है । ज्ञात और अज्ञात के भय के कारण ही मनुष्य हथियार रखता है और इसी कारण दूसरे पर आक्रमण भी करता है । किन्तु जिसके हृदय मे दूसरो के लिये अपार प्रेम होगा उसको किसी से कोई भय नही है ।

चाहे यह कितना बडा विरोधाभास क्यो न मालूम पडे, हिसा सचमुच हमारे अन्दर की कमजोरी की अभिव्यक्ति है । जिसका हृदय मजबूत है, वह प्रेम से भय को दूर करता है । दूसरो को कष्ट पहुँचाने की अपेक्षा अपना बलिदान करने को भी प्रस्तुत करता है, वह हिसा तो कर ही नही सकता । उसकी अहिंसा सच्ची और वास्तविक अहिंसा है । निर्भयता और प्रेम के द्वारा वह शत्रु के भय और अविश्वास को दूर कर देता है । वह शत्रुओ को कष्ट पहुँचाने के बदले स्वय कष्ट उठाता है । फिर, उसके हृदय मे करूणा का उद्रेक कर उसके हृदय को पिघला देता है । यदि उसके हृदय मे प्रेम और करूणा का अधिक सचार हो जाता है तो आवश्यकता पडने पर वह अपने प्राण की आहुति भी दे सकता है । इस प्रकार वह अपने चारो ओर शाति का वातावरण निर्माण करता है । दूसरी ओर घृणा और भय से उत्पन्न हिसा और भी अधिक भय, घृणा और हिसा को जन्म देते है । इस कारण

---

1. यग-इण्डिया – 16 6 1927

दोनो पक्ष अधिकाधिक गलत और पतित भावनाओ के शिकार हो जात है । इसस दाना पक्षो का सर्वेनाश हो जाता है । हिसा दोनो पक्षो को अनैतिक बनाती है जबकि अहिसा उन्हे उठाती है। भगवान बुद्ध का भी उपदेश था -

"न हि वेरेन वेरानि सम्मतीध कुदाचन ।
अवेरेन च सम्पत्ति एस धम्मो सनतनो ।।"[1]

गाँधीजी को अहिंसा पालन के लिये चाह कितना ही अधिक आग्रह क्यो न हो, किन्तु उन्होने यह स्वीकार किया था कि विशेष परिस्थितियो मे अपवाद रूप मे, जीव-हत्या आवश्यक हो सकती है । उदाहरण स्वरूप - जब कोई कुत्ता पागल हो जाये तो उसे मार डालना ही जरूरी है । उसी तरह यदि कोई मनुष्य पागल होकर अपने हाथ मे नगी तलवार लेकर नृशसतापूर्वक जिस किसी का कत्ल कर रहा हो और जो किसी की पकड में नहीं आ रहा हो, उसको जान से मार डालना ही उचित है । जो ऐसा करता है वह समाज मे सचमुच एक भला आदमी कहलायेगा और समाज सचमुच उसका ऋणी होगा।

प्रेम और निस्वार्थ वृत्ति को गाँधीजी अहिसा की अतिम कसौटी मानते थे । इसलिये अपवाद स्वरूप ही सही, लेकिन कभी-कभी इन उदात्त भावनाओ की रक्षा के लिये जीव-हत्या का प्रसग आ ही जाता है । किन्तु, अपवाद नियम न ही बन सकते और इसीलिये हिसा को प्रोत्साहन नही मिल सकता । हाड-मास के हमारे दुर्बल शरीर पर हमेशा ही अन्दर का शैतान हावी रहता है, जो हमारी आत्मा और इसकी उदात्त भावनाओ को पतन की ओर ले जाने के लिये सचेष्ट रहता है । प्रश्न है कि "हम इन उदान्त शक्तियो को अपने मे किस प्रकार सगठित और सशक्त कर अंदर के इस शैतान को दूर रखें ।"

उपर्युक्त बातो से स्पष्ट होता है कि अहिंसा अपने मूल निषेधात्मक अर्थ मे हिंसा

---

1 धम्यपद, 1/5

का त्याग समझा जाता है । किन्तु गाँधीजी ने इसकी भावनात्मक व्याख्या भी की है, अत वे अहिसा, को 'प्रेम' भी कहते है । अपने आचरण और उपदेशो के द्वारा उन्हान अहिसा की कल्पना मे बुद्ध की मैत्री और करूणा तथा ईसामसीह की "शत्रुओ से प्यार, बुराई क बदले भलाई और घृणा के बदले प्यार" करने की भावनाओ का भी सम्मिश्रण कर दिया। भावात्मक अर्थ मे अहिसा गीता और अन्य भारतीय शास्त्रो मे बार-बार वर्णित 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त पर आधारित है । यदि कुरान की भी सही व्याख्या हो ता उसमे भी व्यापक रूप से अहिसा का तत्व मिलेगा । इस प्रकार उन्हे 'अहिसा परमाधर्म' की प्रचलित सस्कृत उक्ति मे मिला । लेकिन, आखिर इसको सर्वश्रेष्ठ सद्गुण क्यो माना जाये ? गाँधीजी इसके विषय मे स्पष्ट करते हुये लिखते है कि – "बिना अहिसा क सत्य की साधना ही असभव है ।"[1] उनके लिये तो सत्य की सर्वव्यापी ईश्वर-साधना सम्भव है और ईश्वर से प्रेम करने का अर्थ है कि हम उन प्राणियो से प्रेम करे जिनमे व आशिक रूप से विद्यमान है । इसलिये वे कहते है कि – "यदि हम सत्य स्वरूप ईश्वर का पाना चाहते है तो हमे इसके लिये निश्चय ही प्रेम या अहिंसा का मार्ग अपनाना होगा ।"[2]

अहिसा को सर्वश्रेष्ठ मानने के दो और महत्वपूर्ण कारण है । प्रथम तो यह कि प्राणि मात्र के प्रति हम चाहे जो भी कुछ करना चाह, अहिंसा सबके मूल म है । हम किसी के प्रति अपना कोई भी कर्तव्य-पालन तभी कर सकते है जबकि वह जीवित हो। दूसरी बात यह प्रेमरूप अहिंसा सभी सद्गुणो की जननी है ।

<u>सत्य</u> :

अहिंसा के बाद सत्य पर गाँधीजी सर्वाधिक जोर देते है । संस्कृत मे 'सत्य' केवल सत्य (जो है) के ही अर्थ मे नही बल्कि "सत्य वचन" के भी अर्थ मे प्रयाग होता है । अग्रेजी मे भी प्राय यही स्थिति है । इससे यह सिद्ध होता है कि सत्य और सत्य

---

1 गाँधी डायरी – 21 नवम्बर, 1944

2 यग-इण्डिया -- 31.12 1931

वचन मे आतरिक सम्बन्ध है । वस्तुत, सत्य के आदर्श भाव के कारण ही हमार विचार, वाणी और व्यवहार मे सत्यनिष्ठा जाग्रत होती है ।

गाँधीजी के लिये, विचार के क्षेत्र मे सत्य का अर्थ तथ्यो के प्रति आदर भाव है । यह किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व उसके सत्यासत्य के अन्वेषण के प्रति उसकी उत्कट जिज्ञासा ही है । हम लोगो ने देखा है कि उन्होने अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन मे इस सिद्धान्त का किस प्रकार पालन किया है और किस प्रकार उन्हान अपने सम्पूर्ण जीवन को सत्य के साथ एक निरतर प्रयोग के रूप मे रखकर सत्य का अन्वेषण किया । सभी **भारतीय दार्शनिको** की तरह गाँधीजी ने भी **अविद्या को सभी दोषों के मूल में माना ।** सावधान और सचेष्ट होकर निरीक्षण, साक्ष्य सग्रह और तर्क का निष्पक्ष प्रयोग आदि ही सत्यान्वेषणकी उनकी विधियाँ थी । बुद्धि और शब्द प्रमाण के बीच सघर्ष मे, चाहे वह कितना ही गम्भीर क्यो न हो, गाँधीजी ने हमेशा बुद्धि का पल्ला पकडा । गाँधीजी स्पष्ट कहते है – "मै तो परम्पराओ के लिये ईश्वर प्रदत्त विवेक बुद्धि का परित्याग करना नही चाहता" विवेक को सचमुच उन्होने अपने अदर की ईश्वरीय आवाज के रूप मे माना । तब कभी वे किसी समस्या के समाधान मे सशय मे पड जाते थे तो चुपचाप शात होकर अपने मनोविकारो और पूर्वाग्रहो से अपने चितन को मुक्तकर शुद्ध विवेक का आश्रय लेते थे । वे समझते थे, जब ये व्यवधान दूर हो जायेगे सत्य फिर स्वत चमक उठेगा । **इसलिये वे कहते हैं "स्वभाव से ही सत्य स्वयं प्रकाश्य है । जैसे ही अविद्या रूपी आवरण हट जायेगा, वैसे ही सत्यरूपी सूर्य पुनः प्रकाशित हो उठेगा ।"** इसलिये, सत्यान्वेषण के लिये आत्म–विश्लेषण और आत्म–शुद्धि आवश्यक है । प्राचीन हिन्दू नीतिशास्त्र का आश्रय लेकर वे कहते हैं कि "व्यक्ति जब तक काम, क्रोध, लोभ, मोहमान और माया – इन षड्रिपुओ के प्रभाव में रहेगा, वह सत्य का दर्शन नही कर सकता । जो स्वय नैतिक रूप से शक्तिमान् हो, वही इन विवादास्पद स्थितियो मे खासकर सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों के लोक व्यवहार मे सत्य को जान सकता है ।

गाँधीजी के विचार मे सत्यनिष्ठा पर आरूढ रहन क लिय अपक्षित शक्ति उन्ह अपनी नैतिक शुद्धता तथा काम, क्रोध आदि भयकर शत्रुआ को अपने से दूर रखने म मिली। उससे उनकी दृष्टि और उनके निर्णय दूषित नही हो सके । यही कारण था कि अन्य राजनीतिज्ञो की अपेक्षा अपनी समस्याओ के आधारभूत सत्य को उन्होने अच्छी तरह देखा और समझा । हाँ, वे अपनी भूले और असफलताएँ भी महसूस करते थे और उन्हे निसकोच झूठी सामाजिक और राजनैतिक प्रतिष्ठा की परवाह नही करते हुय सार्वजनिक रूप स स्वीकार कर लेते थे । अग्रेजी हुकूमत के खिलाफ अपने एक प्रारम्भिक अहिंसक आन्दालन के दौरान, जब उन्होने कुछ स्थानो मे हिसा की छिटपुट घटनाए देखी ता झट आन्दालन को स्थगित कर दिया । साथ ही उन्होने यह घोषणा कर दी – "सविनय–अवज्ञा आन्दोलन मे जनता को बिना अपेक्षित प्रशिक्षण दिये जनता के द्वारा इस आन्दोलन को खडा करने मे उन्होने स्वय हिमालय के समान भूल की है ।" कुछ समय के लिये उनकी इस घोषण पर सरकार के लोगो ने खूब मखौल उडाया और स्वय उनके अनुयायियो ने भी इसकी कडी आलोचना की । किन्तु, अपनी भूल को स्वीकार कर वे अदर स और भी अधिक शक्तिशाली, शुद्ध और आगे के आन्दोलनो के लिये सावधान और सतर्क हो गये । इस कारण उन्होने स्वातन्त्रय–संग्राम मे अनेक सफलताएँ पायी । उनकी अविचल सच्चाई और निष्कपटता ने न केवल उनके अनुयायियो को, बल्कि उनके विरोधियो के भी हृदय को जीता । अन्त मे, इन्ही सबके कारण वे अपने समय म नैतिक सग्राम के सर्वश्रेष्ठ नायक बन गये ।

वाणी और व्यवहार मे सच्चाई तो विचार की सच्चाई से ही स्वाभाविक रूप से निसृत होती है । गाँधीजी को 'सत्यमेव जयते' के सिद्धान्त मे पूरा विश्वास था । सौभाग्य से यह उक्ति आज हमारे सार्वभौम स्वतंत्र गणतन्त्र का भी बोधवाक्य बन गया है । उनको यह विश्वास हो गया था कि धोखा देने वाला अत मे अवश्य ही धोखा खायेगा। हमेशा सत्य की विजय और झूठ की हार होती है – इस बात को सिद्ध करने के लिये कभी–कभी वे अत्यन्त प्रखर और प्रबल तर्क उपस्थित करते थे । जब कभी थोडे समय

के लिये भी झूठ की विजय होती है तो वहाँ सत्य के नाम का ही सहारा लिया जाता है । इस तरह झूठ का भी अस्तित्व सत्य पर ही टिका हुआ है । सत्य मे ही वह एक मात्र अन्तर्निहित शक्ति है जो सब पर छा जाती है । झूठ का अपना अस्तित्व ही नही है। यह आप ही आप मिट जाता है ।

वाणी और व्यवहार मे सच्चाई तो अपने बन्धु-बान्धवो के प्रति प्रेम की भावना से ही स्वत प्रकट होती है ।किसी व्यक्ति को हृदय से प्यार करना और फिर वचन एव व्यवहार मे उसे धोखा देना - ये दोनो बाते परस्पर विरोधी है । इसलिये सत्य और प्रेम अवियोज्य है ।

अन्याय भारतीय नीतिवेत्ताओ की तरह गाँधीजी भी मानते है कि सत्य से प्रेम निसृत होता है । सत्य बोलने का अर्थ है कि वही बोलना चाहिये जो शुभ और सुन्दर हो । सत्य बोलने का अर्थ यह नही कि हम वाचालता, अश्लीलता और निरर्थकता आदि के शिकार हो जाये । इससे न तो वक्ता का और न उस व्यक्ति का लाभ होगा, जिसके विषय में ये सब चीजें बोली जाती हैं । हमे तो जो भी बोलना चाहिये वह दूसरे का हित और लाभ देखकर ही बोलना चाहिये । फिर, यदि उपयोगी सत्य को हम और कठोर ढग से बोलेगे तो इससे प्रतिकूल प्रतिक्रिया ही उत्पन्न होगी । उससे सम्भवत लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना है । इसलिये हम जो भी बोले, प्रेम से बोले । **मनु का नीति वचन** भी है "सत्यम ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात्, न ब्रूयात असत्यमप्रियम ।"[1] इसका अर्थ यही है कि सत्य बोलना भी एक बडी कला है, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे नित्य एव अविराम साधना से ही सम्भव है । जो व्यक्ति अपनी वाणी पर सयम नही रख सकता वह सत्यव्रत का पालन भी नहीं कर सकता ।

सत्य की आधारभूत श्रेष्ठता के प्रति आन्तरिक आस्था गाँधीजी के सम्पूर्ण जीवन

---

1 मनुस्मृति - 4/138

मे प्रकट होती थी । चाहे उनकी बातचीत हो या व्याख्यान, लेख हा या पत्रकारिता, हर जगह उन्होने अतिशयोक्ति, असहिष्णुता, कठोरता और सस्ती सफलता के लिय अनुचित उद्धिमता को अपने से दूर ही रखा, इसलिये चाहे वे एक वार्ताकार के रूप मे हो या सार्वजनिक वक्ता के रूप मे, चाहे सम्पादक हो या कोटि-कोटि मूक जनता के प्रतिनिधि, या कठिन राजनीतिक सघर्षो के अग्रणी नेता – उन्होने हर जगह मृदु और प्रभावकारी सत्यवादिता का जो आदर्श प्रस्तुत किया वह इतिहास मे अन्यत्र दुर्लभ है ।

3–अस्तेय

अस्तेय का अर्थ है "चोरी न करना और जब कोई वस्तु किसी के द्वारा हमको न दी जाये, उसे नही लेना ।" इसलिये हर व्यक्ति का अपनी सम्पत्ति पर अधिकार है । इसी मान्यता पर अस्तेय-व्रत आधारित है । जैन-विचारक यह मानते है कि सम्पत्ति किसी व्यक्ति के जीवन और उसके व्यक्तित्व का आवश्यक अग है । इसलिये, उसकी सम्पत्ति का अधिग्रहण करना वस्तुत उसका प्राणहरण करने के ही समान है । हम यह भी कह सकते है कि चूँकि किसी व्यक्ति का जीवन बिना किसी भी प्रकार के परिग्रह के चल ही नही सकता, इसलिये यदि हम उसको कष्ट नही देना चाहते है तो हमे उसकी सम्पत्ति नही छीननी चाहिये । गाँधीजी के अनुसार चोरी खराब काम है । क्याकि इससे दूसरो को कष्ट पहुँचता है । इस व्यापक दृष्टि से विचार करने पर अस्तेय व्रत के पालन के लिये केवल प्रचलित रूप से वाह्य अथवा शारीरिक चोरियो का ही नही, बल्कि दूसरे की कीमत पर हाने वाले सभी प्रकार के शोषणो का अत होना चाहिये । चाहे वह पूँजीपतियो के द्वारा श्रमिकों के श्रम का शोषण हो या अन्य कोई शोषण, गाँधीजी इन सबमे अहिसा का तत्व विद्यमान पाते थे ।

अस्तेय-व्रत की अपनी व्याख्या में गाँधीजी तो एक कदम और भी आगे बढकर कहते थे – "अनावश्यक रूप से कोई वस्तु लेना या रखना भी चोरी ही है इसलिये हमे अनावश्यक कोई भी वस्तु नही रखनी चाहिये ।" उनकी अपनी दैनदिनी मे वर्णित अस्तेय-व्रत

की इस प्रकार की कठोर व्याख्या सचमुच अस्तेय और अपरिग्रह दानो व्रतो का प्राय एक ही स्थान पर रख देती है।

4– अपरिग्रह :

अपरिग्रह को अस्तेय से सम्बद्ध ही समझना चाहिये । वास्तव मे चुराया हुआ न होने पर भी अनावश्यक सग्रह चोरी की ही चीज हो जाती है । भारतवर्ष मे विभिन्न दार्शनिको ने अपरिग्रह–व्रत की कठोर व्याख्या की है । पूर्ण अपरिग्रह तो सर्वस्व–समर्पण या पूर्ण स्वामित्व समर्पण ही हो सकता है । उसको अकिचन व्रत भी कहा जाता रहा है । यह केवल यतियो या सन्यासियो के लिये था । वे जगलो मे रहकर प्रकृति द्वारा प्रदत्त कद–मूल, फल–फूल और दान आदि से अपना जीवन–निर्वाह करते थे । किन्तु जो समाज मे साधारण ग्रहस्थ है, उनके लिये यह असभव आदर्श है । अत व्यावहारिक जीवन मे इसका अर्थ केवल इतना ही है कि अनावश्यक वस्तु का हम परिग्रह न करे । आवश्यकता की कोई सीमा नही है । अत विभिन्न स्थितियो मे परिग्रह की विभिन्न सीमाएँ निर्धारित की गयी है।

जैसा कि गाँधीजी ने लिखा है कि "इस व्रत का आदर्श दैनिक उपयोग की वस्तुओ का अनुचित सग्रह रोकना भी है । आज की जो जरूरत है, बस उतना ही सग्रह करना चाहिये।"[1]

यह मानना होगा कि उन्होंने अपना यह आदर्श स्वय अपने जीवन मे और सामाजिक और राष्ट्रीय आन्दोलनों मे लगे अपने निःस्वार्थ कार्यकर्ताओ के सामने भी रखा । वे सभी से यह अपेक्षा रखते थे कि उन्हे भगवान मे आस्था होनी चाहिये और मानव रूप मे अवस्थित भगवान की सेवा निष्काम और समर्पण--भाव से करनी चाहिये । इसके लिये अपनी सम्पत्ति और सग्रह–वृत्ति का त्याग ही नहीं, आवश्यकता पडने पर अपने शरीर त्याग तक के

---

1. गाँधी डायरी

लिये भी प्रस्तुत रहना चाहिय । इसलिये वे कहत हे कि "परिग्रह वस्तुत भविष्य की दृष्टि से किया जाता है । परमात्मा परिग्रह नही करता । वह अपनी आवश्यक वस्तु राज पैदा करता है । इसलिये यदि हमे उन पर दृढ विश्वास हा तो हमे भी समझना चाहिय कि वह मे आवश्यक चीजे रोज व रोज देता है और देता रहेगा ।"[1]

ईश्वर मे गाँधीजी की आस्था ने उनकी बडी सहायता की । गाँधीजी का याइनके कार्यकर्ताओा का कार्य रूपये पैसे के अभाव मे कभी नही रूका । जब भी व किसी आर्थिक सकट मे पडे तो उन्हे किसी अज्ञात और आकस्मिक रूप से सहायता मिलती गयी । इससे ईश्वर मे उनका विश्वास और अधिक दृढ होता गया ।

गाँधीजी ने यह अनुभव किया कि – "अहिंसा और परिग्रह, दोना साथ-साथ नहीं चल सकते ।" पूर्ण अहिसा सर्वस्व-समर्पण की अपेक्षा रखती है । यद्यपि यह एक आदर्श मात्र है, फिर भी हमे निरन्तर इसकी ओर बढते रहना चाहिये । यह अलग बात है कि हम आदर्श पर कभी पहुँच नही सकते । वे इसी को समझाते हुये कहते है – "सिद्धान्त रूप से, जब अहिंसा पूर्ण हो सकती है तो अपरिग्रह भी पूर्ण हागा हमारा यह शरीर, अतिम परिग्रह है । इसलिये जो कोई व्यक्ति पूर्ण अहिंसा की साधना करगा, उसे मानव सेवा के लिये भी तैयार रहना होगा ।"

किन्तु यह केवल सिद्धान्त रूप मे ही सही है, व्यावहारिक जीवन मे हम शरीर धारण करते हुये पूर्ण अहिसा का पालन नही कर सकते । क्योकि शरीररूपी परिग्रह तो सदा साथ रहेगा ही । इसलिये अहिंसा और अपरिग्रह की पूर्णता तब तक अप्राप्य आदर्श मात्र रहेगी जब तक हम जीवित है । किन्तु हमे सर्वदा उसके लिये साधना मे सचेष्ट रहना होगा ।"

---

1 गाँधी डायरी

5. <u>ब्रह्मचर्य</u> :

व्रतो मे ब्रह्मचर्य का भी महत्वपूर्ण स्थान है । इसकी विभिन्न प्रकार स व्याख्या की गयी है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'ब्रह्म की चर्चा' को ही ब्रह्मचर्य कहत है । ब्रह्म का अर्थ 'ईश्वर' और 'वेद' -- दोनो होता है । सामान्य अर्थ मे ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय निग्रह है । यह वेदाध्ययन तथा ब्रह्म साक्षात्कार दोनो के लिये आवश्यक है । मूल अर्थ मे तो ब्रह्मचर्य सर्वेन्द्रिय सयम का द्योतक है, किन्तु मनु ने ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि मे विद्यार्थियो के लिये जानेद्रिय सयम को आवश्यक माना है । हाँ, ग्रहस्थाश्रम म प्रत्येक स्वस्थ एव निरोग व्यक्ति को विवाह तक सन्तानोत्पत्ति के लिये शास्त्र की आज्ञा है । किन्तु गार्हस्थ–जीवन मे भी जहाँ तक हो सके, इन्द्रिय–सयम करना ही चाहिये । इस प्रकार सयमित विवाहित जीवन को भी मनु ने प्राय ब्रह्मचर्य ही माना है । मनु के अनुसार पचास वर्ष की अवस्था के बाद खासकर बुद्धिजीवियो के लिये पूर्ण इन्द्रिय निग्रह अत्यन्त आवश्यक है ।

गाँधीजी द्वारा ब्रह्मचर्य की कल्पना इन्ही प्राचीन आदर्शो एव अपने अनुभव पर आधारित थी । असल मे वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति सामाजिक एव राजनीतिक कार्यों मे लगाना चाहते थे । इसके लिये इन्द्रिय–सयम को उन्होने अत्यन्त आवश्यक माना । यदि किसी सामाजिक कार्यकर्ता पर परिवार का अधिक बोझ होगा तो फिर उसे समाज–सेवा म बाधा पडेगी । इसलिये भी उन्होने अपने एव अपने कार्यकर्ताओ के सामने अविवाहित रहने या सयमित विवाहित जीवन का आदर्श रखा । इस प्रकार एक निस्वार्थ सम‍ाज–सेवा के लिये अविवाहित रहना और इन्द्रिय–सयम रखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है ।

इस आदर्श का पालन करने के लिये गाँधीजी शक्ति और सकल्प के साथ आजीवन प्रयत्न करते रहे । इसकी साधना मे उन्होंने अनुभव किया कि जनेन्द्रिय सयम भी सामान्य रूप से समस्त इन्द्रिय सयमों पर निर्भर है । जब तक मनसा, वाचा, कर्मणा सयम हमारे जीवन मे नही आ जाता तब तक जननेन्द्रिय सयम का भी हम अच्छी तरह से पालन नही

कर सकते । शारीरिक भोग विलास और विषयाशक्ति पर हम परमात्मा के प्रति प्रम एव भक्ति के द्वारा ही विजय प्राप्त कर सकते है । इसलिये उन्होंने कहा है – ब्रह्मचर्य क मूल अर्थ को सब याद रखे । ब्रह्मचर्य का अर्थ है **ब्रह्म की सत्य की साधना में चर्चा,** अर्थात् **तत्सम्बन्धी आचार** । अत सभी इन्द्रियो पर सयम रखना आवश्यक है ।"

प्रचलित अर्थ मे लोग केवल इसको जननेन्द्रिय–सयम के अर्थ मे समझते है । यह व्याख्या अधूरी और गलत है । विषय मात्र का निरोध ही ब्रह्चर्य है । निस्सदह, जो अन्य इन्द्रियो को जहाँ तहाँ भटकने देता है और एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयास करता है उसका प्रयत्न निष्पक्ष जाता है । सभी इन्द्रियाँ अलग–अलग और स्वतत्र है । फिर, मन भी एक इन्द्रिय ही है । जहाँ मन होता है वही अत मे हमारा शरीर भी घसिटाये बिना नही रहता । मन को वश मे किये बिना शरीर को यदि हम थोडी देर के लिये वश मे कर भी ले तो वह निष्फल हो जाता है । मन तो वायु के समान चचल है । किन्तु, हमारी आत्मा मे बैठा परमात्मा इसको भी सभव कर देता है । इसलिये हम यह नहीं समझना चाहिये कि 'चूँकि यह कठिन है, इसलिये यह असभव है ।'

जननेन्द्रिय को वश मे करने के लिये अन्य इन्द्रियो को भी वश मे रखना आवश्यक है, उनमे मुख्य स्वादेन्द्रिय है । इसीलिये गाँधीजी उसे व्रतो मे स्थान देकर विभिन्न प्रकार के आहारो के प्रयोग पर कामोत्तेजना पर पडने वाले उनके प्रभावो की आजीवन परीक्षा करते रहे । आहार का विचार पर प्रभाव पडता है, यह भारतवर्ष की एक प्राचीन मान्यता है । इसको ध्यान मे रखकर गाँधीजी ने वैज्ञानिक दृष्टि से इस सम्बन्ध मे अनेक प्रयोग किये । यद्यपि उन्होने अपने जीवन मे अस्वाद–व्रत का अत्यन्त कडाई के साथ पालन किया, लेकिन अभ्यास के कारण उनके लिये यह बिल्कुल सरल हो गया । इसलिये उन्हे कभी इसका भान नहीं हुआ कि वे किसी प्रकार काया–क्लेश सह रहे है । उन्होने स्वय ही कहा – "मुझे योगी और सन्यासी मत समझे । मै जिन आदर्शो का पालन कर रहा हूँ, वह सर्वसाधारण के लिये भी है ।"

6. <u>अभय</u> :

पच महाव्रतों के साथ गाँधीजी ने अभय को जोड दिया है, जिसका उल्लेख उपनिषद् आदि प्राचीन शास्त्रो मे है । अभय के बिना सत्य की खाज या अहिसा का पालन असभव है । जहाँ हिसा की विकराल शक्ति के सामने सिर पर कफन बाँधकर अहिंसक सघर्ष चल रहा हो वहाँ कायरता से कैसे काम चलेगा ? फिर, जिसके हृदय मे प्रेम का पारावार हो उसे किस बात का भय है ? **उन्होंने अपनी डायरी में लिखा था** – "अभय के माने है सभी प्रकार के भय–मौत का भय, धन दौलत लुट जाने का भय, अप्रतिष्ठा का भय, अपमान का भय, शस्त्र प्रहार का भय आदि से मुक्ति ।"[1] **इसलिये गाँधी स्पष्ट कहते हैं कि – "कायर व्यक्ति** कभी नैतिकता का पालन नहीं कर सकता । सदाचार और सदगुण ग्रहण के लिये भी अभय आवश्यक है । इसके बिना भला सत्य का अन्वेषण और प्रेम की साधना कैसे हो सकेगी ।"[2]

नैतिक बहादुरी ही सबसे बडी बात है । कायर अर्थात् भयभीत । वीर का मतलब भययुक्त, तलवार आदि लटकाने वाला नहीं । तलवार क्रूरता का चिन्ह नही बल्कि भीरूता की निशानी है । निर्भयता दूसरो को किसी प्रकार दुख देने मे नही, बल्कि धैर्य और साहसपूर्वक दूसरो के लिये सभी प्रकार के दुखो को सहने और यहाँ तक कि अपने प्राणोत्सर्ग की तैयारी में है ।

जीवन के सब क्षेत्रो मे अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये इन व्रतो की साधना गाँधीजी और उनके आश्रमवासियो की विशेषता थी । इन व्रतो की कठोर साधना के लिये उन्हें **ईसा मसीह** के **"पर्वततीय उपदेश"** और **टालस्टाय का "ईश्वर का राज्य तुम्हारे अन्दर"** नामक ग्रन्थ से प्रेरणा मिलती थी । अहिंसा और अपरिग्रह की उनकी कल्पना पर टालस्टाय का तो बहुत ही प्रभाव था ।

---

1. गाँधी डायरी
2. आत्म–कथा

इन छह व्रतो के अतिरिक्त भी भारत के आधुनिक सन्दर्भ का ध्यान मे रखत हुये गाँधीजी ने कतिपय अन्य व्रतो का भी उल्लेख किया है । उनक कायिक–श्रम, सर्व–धर्म–समभाव, अस्पृश्यता–निवारण और स्वदेशी मुख्य है ।

इन सभी व्रतो और सद्‌गुणो की साधना के पीछे गाँधीजी का यह विश्वास था कि **प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर का अंश है और वह उसी की अभिव्यक्ति भी है । इसलिये प्रेम और अहिंसा की भावना स्वतः निसृत होती है । गाँधीजी यह समझते थे कि विवेक शक्ति के बिना प्रेम एक प्रकार की वासना बन जाती है । इसलिये उन्होने सत्य और सदाचार के लिये विवेक को भी काफी महत्व दिया ।** भगवान बुद्ध की तरह उन्होने यह माना कि नैतिक–जीवन के लिये सतत् सावधानी और निरंतर पुरूषार्थ आवश्यक है ।

महात्मा गाँधी के नैतिक–विचारों पर वेदान्त का प्रभाव :

यदि हम महात्मा गाँधी के नैतिक–विचारो का अध्ययन करते है तो हम देखते है कि महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण नैतिक–विचार वेदान्त–दर्शन से प्रभावित हुये बिना नही रहा है कही वह अद्वैतवाद से प्रभावित है तो कही विशिष्टा द्वैत से ।

महात्मा गाँधी का यह कथन कि मानव का चरम लक्ष्य ईश्वर का साक्षात्कार है किन्तु ईश्वर तो अमूर्त तत्व है । वह तो सत्य या सत्ता के रूप मे मानव की आत्मा तथा ससार की समस्त वस्तुओ मे विद्यमान है वेदान्त की उस कथन की पुनरावृत्ति प्रतीत होती है जब शंकराचार्य अपनी ईश्वर–विषयक अवधारणा का प्रतिपादन करते हुये कहते है ब्रह्म निर्गुण और निराकार है । ब्रह्म को जब हम विचार से जानने का प्रयास करते है तब वह ईश्वर हो जाता है । ईश्वर सगुण ब्रह्म है । ईश्वर सविशेष ब्रह्म भी कहा जाता है । ईश्वर सर्वज्ञ है । वह सर्वव्यापक है । वह स्वतन्त्र है । वह एक है । वह अन्तर्यामी है । ईश्वर जगत् का सृष्टा, पालनकर्ता और सहारकर्ता है । वह नित्य और

अपरिवर्तनशील है । ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब माया पर पडता है तो वह ईश्वर हो जाता है । शकर ने ईश्वर को मायोपहित ब्रह्म कहा है ।

सर्वज्ञ सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगोध्रुव ।
जगज्जनिस्थि तिध्वसहेतुरेष सदेश्वरत ।।[1]

बृ0भा0वा0

"जिस प्रकार से शकराचार्य ने अपने दर्शन मे जीव को अपना अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार को माना है और बताया है कि जब जीव या आत्मा इस मायारूपी ससार को त्याग देता है अपनी सासारिक वृत्तियो का निरोध कर देता है तो वह ब्रह्म के साथ स्वय का अनुभव करते हुये कह उठत है **'अयंमात्मा ब्रह्म'** ।"[2] "उसी प्रकार गाँधी ने भी कहा है प्रत्येक व्यक्ति कुछ अच्छे, बुरे, स्वार्थी और निस्वार्थी प्रवृत्तियो को लेकर जन्म लेता है । उसे सुधार करना चाहिये और धीरे-धीरे अपने क्षुद्र अस्तित्व को अनन्त आत्मा और परमात्मा से एकाकार करना चाहिये ।" यह तभी हो सकता है जब हम अपने स्वार्थी को छोडकर परार्थ का भावना की ओर प्रवृत्त हो । इसलिये आत्म--साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार दूसरों के प्रति प्रेम भाव रखने और उसके अनुसार कर्तव्य पालन करने से होगा । यह विचार स्पष्ट रूप से शाकर वेदान्त से प्रभावित परिलक्षित होते हैं ।

"जिस प्रकार शंकराचार्य ने ब्रह्म की भावात्मक व्याख्या करते समय ब्रह्म को सत् + चित् + आनन्द कहा है । अर्थात् ब्रह्म सच्चिदानन्द है । शकर ने कहा है कि ब्रह्म सत् है जिसका अर्थ है कि वह असत् नही है वह चित् है अर्थात् अचेतन नही बल्कि चेतन है तथा आनन्द है अर्थात् वह प्रेममय है वह सुख रूप है वह दुख रूप नही है ।"[3]

अब यदि हम गाँधी के परमात्मा सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करते है तो हमे दृष्टिगत होता है कि "गाँधी ने भी अपने अमूर्त, निराकार परमात्मा मे प्रेम नामक गुण

---

1 वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक - 2/5/19
2. माण्डूक्योषनिषद्
3 ब्रह्म सूत्र भाष्य - 2/1/19

का आरोपण करते हुये बताया है कि प्रेम के रूप मे ही परमात्मा जीवात्मा या मानव क हृदय मे निवास करता है । इस प्रेम रूप परमात्मा के बिना मानव अपने क्षुद्र स्वार्थों म ही लीन रहता है ।"[1] इस प्रकार हम देखते है कि गाँधी क उपरोक्त विचार 'वदान्त से प्रभावित बिना नही रह सके है ।

भावना और प्रेम का अधिष्ठान ज्ञान होना चाहिये । अप्रबुद्ध प्रेम तो एक प्रकार की पाशिवक वासना है । ज्ञान ही प्रेम को वासना से अलग करता है । जब मनुष्य अपना सही स्वरूप भूल जाता है, तब वह इसी स्थूल रक्त मास के शरीर से उत्पन्न तृष्णा और वासना का शिकार हो जाता है । तब वह अपने को शरीर रूप ही समझने लगता है । किन्तु जब उसे आधारभूत सत्ता और इसके माध्यम से सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान होता है तो उसका प्रेम शरीर की क्षुद्र सीमा को तोडकर सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त हो जाता है । इसी लिये प्रेम की भावना और सत्य का ज्ञान एक दूसरे की मदद करते है । इसलिये प्रेम की भावना और सत्य का ज्ञान एक दूसरे की मदद करते है । इसीलिये गाँधीजी ने नैतिकता के पालन के लिये ज्ञान साधना पर अधिक बल दिया है । इनका कथन है कि ज्ञान के द्वारा ही हम अपने वास्तविक स्वरूप को जान सकते है ।

यहाँ यदि हम गाँधी के उपरोक्त विचारो पर आद्यापान्त दृष्टि डाले ता हम यह ज्ञात होता है कि गाँधीजी वेदान्त से पूर्ण रूप से प्रभावित थे । क्योकि जिस प्रकार शकराचार्य ने अद्वैत सम्बन्धी विचारधारा का प्रतिपादन करते समय ब्रह्म साक्षात्कार के लिये ज्ञान की प्रधानता प्रदान किया है । **शंकराचार्य** का कथन है कि "आत्मा शरीर से भिन्न है फिर भी वह शरीर की अनुभूतियो को निजी अनुभूतियाँ समझने लगता है ।"[2] जिस प्रकार पिता अपनी प्रिय सन्तान की सफलता और असफलता को निजी सफलता और असफलता समझने लगता है उसी प्रकार आत्मा शरीर के पार्थक्य के ज्ञान के अभाव मे शरीर के सुख को निजी सुख–दुख समझते लगती है । यही बन्धन है । आत्मा स्वभावत नित्य, शुद्ध

1 आत्म–कथा
2 ब्रह्म सूत्र शकर भाष्य – 2/1/14

चैतन्य, मुक्त और अविनाशी है । परन्तु अज्ञान के वशीभूत हाकर वह बन्धनग्रस्त हो जाती है । जब तक जीव मे विद्या का उदय नही होगा तब नक वह ससार के दुखा का सामना करता जायेगा । अविद्या का नाश होने के साथ--साथ जीव के पूर्व सचित कर्मो का अन्त हो जाता है और इस प्रकार वह दुखो से छुटकारा पा जाता है ।

जिस प्रकार शकराचार्य अपने अद्वैत ब्रह्म की व्याख्या करत हुये कहत है कि "ब्रह्म की व्याख्या करते हुये कहते है कि "ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप पूर्णत सत्य है। वह पारमार्थिक रूप से सत्य है । वह एक मात्र सत्य कहा जा सकता है । ब्रह्म स्वय ज्ञान है । वह प्रकाश की तरह ज्योतिर्मय है । इसीलिये ब्रह्म का स्वय प्रकाश कहा गया है ।"1

ब्रह्म सब विषयो का आधार है, यद्यपि यह द्रव्य नही है । ब्रह्म दिक् और काल की सीमा से परे है । ब्रह्म पर कारण नियम भी लागू नही होता ।

शकर ने ब्रह्म को निगुर्ण कहा है । उपनिषद् मे सगुण और निर्गुण ब्रह्म के दो रूपो की व्याख्या हुई है । यद्यपि ब्रह्म निगुर्ण है फिर भी ब्रह्म को शून्य नहीं कहा जा सकता है । उपनिषद् ने भी निर्गुणो गुणी कहकर निर्गुण को भी गुणयुक्त माना है।

शकर के मतानुसार ब्रह्मपूर्ण एव एकमात्र सत्य है, ब्रह्म का साक्षात्कार ही चरमलक्ष्य है । वह सर्वोच्च ज्ञान है । ब्रह्म ज्ञान से ससार का ज्ञान जो मूलत अज्ञान है, समाप्त हो जाता है । ब्रह्म अनत, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान है । वह भूत जगत् का आधार है । जगत् ब्रह्म का विवर्त है परिणाम नही । शकर ने केवल इसी अर्थ मे ब्रह्म को विश्व का कारण माना है । इस विवर्त से ब्रह्म पर कोई प्रभाव नही पडता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक जादूगर अपने जादू से ठगा नही जाता है ।

---

1 वेदान्तसार – सदानन्द

अविद्या के कारण ब्रह्म नाना रूपात्मक जगत् के रूप मे दीखता है । शकर के अनुसार ब्रह्म की एकभाव सत्य है जगत् मिथ्या है ।

शकर की ही तरह यदि हम गॉधी के सत्य सम्बन्धी विचार पर दृष्टि डालते है तो गॉधी भी कहते है कि "सभी दोषो का मूल अविद्या है अविद्या के कारण ही मनुष्य नानारूपात्मक जगत् मे विचरण करता रहता है । इस अविद्या को दूर करने के लिये गॉधी का कथन है कि हमे निष्पक्ष, सावधान तथा सचेष्ट होकर सत्यान्वेषण करना चाहिये । गॉधी का 'सत्य' प्रकारान्तर रूप से अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म ही है क्योकि गॉधी के सत्य मे वे सभी विशेषताये दृष्टिगोचर होती हैं जो कि शकर के ब्रह्म मे है । शकर या वेदान्त के ब्रह्म की तरह गॉधीजी भी सत्य को स्वभाव से स्वय प्रकाश्य, अमूर्त अनन्त आदि मानते है फिर कहते है कि जैसे ही अविद्या का आवरण हट जाता है वैसे ही सत्य रूपी सूर्य पुन प्रकाशित हो उठता है ।"[1]

गॉधी की नैतिक प्ररणा के स्रोत के रूप मे यदि हम ईसा-मसीह के 'पर्वतीय-उपदेश' और टालस्टाय द्वारा अनूदित ग्रन्थ "ईश्वर का राज्य तुम्हारे अन्दर है आदि को यदि हम देखे तो हमे यह विदित होता है कि इस पेरणा के मूल स्रोत मे वेदान्त की विचारधारा ही निहित है ।

गॉधीजी अपने नैतिकता सम्बन्धी विचारधारा के प्रतिपादन मे जिन छ सद्गुणो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य तथा आधुनिक सन्दर्भ के परिपेक्ष्य मे प्रतिपादित अन्य व्रतो यथा कायिक श्रम, सर्व-धर्म--समभाव, अस्पृश्यता निवारण और स्वदेशी का उल्लेख किया है । इन सब व्रतो तथा सद्गुणो का उल्लेख करने के पीछे गॉधी की एक महत्वपूर्ण धारणा यही थी कि सब मनुष्य उसी एक ईश्वर का अश है वह उसी को अभिव्यक्ति है । इसीलिये प्रेम तथा अहिसा की भावना उसी से ही निसृत होती है । वही

---

1 आत्म-कथा

अविद्या के कारण ब्रह्म नाना रूपात्मक जगत् के रूप म दीखता है । शकर के अनुसार ब्रह्म की एकभाव सत्य है जगत् मिथ्या है ।

शकर की ही तरह यदि हम गाँधी के सत्य सम्बन्धी विचार पर दृष्टि डालते है तो गाँधी भी कहते है कि "सभी दोषो का मूल अविद्या है अविद्या के कारण ही मनुष्य नानारूपात्मक जगत् मे विचरण करता रहता है । इस अविद्या को दूर करने के लिये गाँधी का कथन है कि हमे निष्पक्ष, सावधान तथा सचेष्ट होकर सत्यान्वेषण करना चाहिये । गाँधी का 'सत्य' प्रकारान्तर रूप से अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म ही है क्योंकि गाँधी के सत्य मे वे सभी विशेषताये दृष्टिगोचर होती है जो कि शकर के ब्रह्म मे है । शकर या वेदान्त के ब्रह्म की तरह गाँधीजी भी सत्य को स्वभाव से स्वय प्रकाश्य, अमूर्त अनन्त आदि मानते है फिर कहते है कि जैसे ही अविद्या का आवरण हट जाता है वैसे ही सत्य रूपी सूर्य पुन प्रकाशित हो उठता है ।"[1]

गाँधी की नैतिक प्रेरणा के स्रोत के रूप म यदि हम ईसा--मसीह के 'पर्वतीय--उपदेश' और टालस्टाय द्वारा अनूदित ग्रन्थ "ईश्वर का राज्य तुम्हारे अन्दर है आदि को यदि हम देखे तो हमे यह विदित होता है कि इस प्रेरणा के मूल स्रोत मे वेदान्त की विचारधारा ही निहित है ।

गाँधीजी अपने नैतिकता सम्बन्धी विचारधारा के प्रतिपादन मे जिन छ सद्‌गुणा सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य तथा आधुनिक सन्दर्भ के परिपेक्ष्य मे प्रतिपादित अन्य व्रतो यथा कायिक श्रम, सर्व-धर्म--समभाव, अस्पृश्यता निवारण और स्वदेशी का उल्लेख किया है । इन सब व्रतो तथा सद्‌गुणो का उल्लेख करने के पीछे गाँधी की एक महत्वपूर्ण धारणा यही थी कि सब मनुष्य उसी एक ईश्वर का अश है वह उसी की अभिव्यक्ति है । इसीलिये प्रेम तथा अहिंसा की भावना उसी से ही निसृत होती है । वही

---

1 आत्म-कथा

एक मात्र सत्य है उससे भिन्न कुछ भी नही है । गाँधी की यह ईश्वर सम्वर्धन विचारधारा अद्वैत वेदान्त की इस विचारधारा से बहुत कुछ प्रभावित है या यह कहे कि इसी का रूपान्तर है जिसमे कहा गया है कि "एक मात्र ब्रह्म ही सत्य हे जगत् मिथ्या है जीव ब्रह्म ही है दूसरा कुछ नही है ।"

"ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर ।"[1]

यदि हम गाँधी के नैतिक विचारो पर आद्योपान्त दृष्टि डालते है तो हम देखते है कि शकर द्वारा बतायी गयी नैतिकता तथा धर्म की अवधारणा गाँधी की नैतिकता की अवधारणा की पूर्व पीठिका है ।

"शकर के दर्शन मे धर्म तथा नैतिकता का वही स्थान है जो ईश्वर, जगत्, सृष्टि का है । उन्होने व्यवहारिक दृष्टिकोण से नैतिकता और धर्म दोनो को सत्य माना । नैतिकता और धर्म की असत्यता पारमार्थिक दृष्टिकोण से विदित होती है । परन्तु जो सासारिक व्यक्ति है, जो बन्धनग्रस्त है, उनके लिये व्यवहारिक दृष्टिकोण से सत्य होने वाली वस्तुये पूर्णत यथार्थ है ।"[2]

शकर के अनुसार मुमुक्षु को वैराग्य अपनाना चाहिये । उसे स्वार्थ और अहम भावना का दमन करना चाहिये तथा अपने कर्मो को निष्काम भावना से पालन करना चाहिये।

शकर वेदान्त के अध्ययन के लिये साधन चतुष्टय को अपनाने का आदेश देते है। ये है –

1– नित्य, अनित्य पदार्थो के भेद की क्षमता ।

1-- ब्रह्म रत्नावली माला – शकराचार्य 20/1

2-- ब्रह्मसूत्र भाष्य 2/2/28

2– लौकिक, पारलौकिक भोगो की कामना का त्याग ।

3– शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा जैसे साधनो से युक्त होना ।

4– मोक्ष प्राप्ति के लिये दृढ–सकल्प होना ।

इस प्रकार नैतिक जीवन ज्ञान के लिये नितान्त आवश्यक समझा जाता है । यद्यपि नैतिक कर्म साक्षात रूप से मोक्ष प्राप्ति में सहाय्य नही देता है फिर भी यह ज्ञान की इच्छा को जागरित करता है । ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साधन है । अत नैतिकता असाक्षात् या परोक्ष रूप से मोक्ष प्राप्ति मे सहायक है ।

शकर के अनुसार धर्म और अधर्म का ज्ञान श्रुति के द्वारा होता है । सत्य, अहिसा, दया आदि धर्म है तथा असत्य, हिसा, उपकार, स्वार्थ आदि अधर्म है ।

शकर के दर्शन मे उचित और अनुचित कर्म का मापदण्ड भी निहित है । उचित कर्म वह है जो सत्य को धारण करता है और अनुचित कर्म वह है जो असत्य को धारण करता है । कल्याणकारी कर्म वे है जो हमे उत्तम भविष्य की ओर ले जाते है जो कर्म हमे अधर्म भविष्य की ओर ले जाते हैं वे पाप कर्म है ।

शकर के मत मे "आत्मा का ब्रह्म के रूप मे तदाकार हो जाना ही जीवन का चरमलक्ष्य है ।"[1] मनुष्य स्वभावत आत्मा को ब्रह्म से पृथक समझता है । ब्रह्म निर्गुण है, यद्यपि वह निर्गुण है फिर भी ब्रह्म मे उपासक अनेक गुणो का प्रतिपादन करता है जिसके फलस्वरूप वह सगुण हो जाता है । वह उपासना का विषय बन जाता है । उपासना मे उपासक और उपास्य का द्वैत विद्यमान् रहता है । ज्ञान के द्वारा हम सत्य का अनुभव यथार्थ रूप मे करते हैं, परन्तु उपासना के द्वारा सत्य का अनुभव नाम और रूप की सीमाओ से किया जाता है और वह सत्य को वास्तविक रूप मे जानने लगता है । जब उपासक

---

1 वृह्दारण्यक 2/5/19

को यह विदित हो जाता है कि ईश्वर जिसकी वह आराधना करता है उसकी आत्मा से अभिन्न है तब उसे उपासना के विषय से साक्षात्कार हो जाता है । इस प्रकार शकर के अनुसार धर्म आत्म-सिद्धि का साधन है।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि धर्म पूर्णत सत्य है । धर्म की सत्ता व्यवहारिक है । ज्यो ही आत्मा का ब्रह्म से साक्षात्कार हो जाता है त्यो ही धर्म निस्सार प्रतीत होने लगता है।

इस प्रकार हम देखते है कि गाँधी के नैतिक-विचार तथा शकर वेदान्त के नैतिक विचार बहुत कुछ साम्य रखते है । इस प्रकार गाँधी के विचार शकर स प्रभावित हुये बिना नही रह सके ।

XXXXXXXX

षष्ठ -अध्याय

महात्मा गाँधी के आर्थिक विचार तथा उस पर वेदान्त का प्रभाव

महात्मा गॉधी के आर्थिक उन्नति के विचार तथा उस पर वेदान्त का प्रभाव :-

आर्थिक व्यवस्था का महत्व :-

मानव इतिहास के किसी अन्य युग से अधिक आजकल आर्थिक व्यवस्था हमारी अधिकाश गतिविधि को परिवेष्टित करती है। हम एक ऐसे ससार मे रह रहे है जिस पर आर्थिक शक्तिया एव आर्थिक विचार हावी है। वस्तुत आर्थिक व्यवस्था ही इतिहास की धारा को मोडने का प्रमुख कारण रही है। प्रो0 मार्शल ने ठीक कहा है कि धार्मिक आदर्श को छोडकर अन्य किसी भी प्रभाव से अधिक अपने दैनन्दिन कार्य द्वारा एव उससे प्राप्त होने वाले भौतिक साधनो द्वारा मानव चरित्र गठित होता रहा है। विश्व इतिहास के निर्माण के दो प्रधान अभिकरण रहे है धर्म एव आर्थिक व्यवस्था। "आर्थिक व्यवस्था का महत्व दूसरी तरह से भी प्रतिपादित किया जा सकता है। मानव को अपने शरीर की कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति अनिवार्यतया अपेक्षित है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रकृति उसे कुछ साधन प्रदान करती है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किया गया इन साधनो का प्रयोग मानसिक एव शारीरिक क्रिया कलाप मे परलक्षित होता है। ये क्रिया कलाप एक ओर तो मानव के जीवनोद्देश्य से नियत्रित होते है दूसरी ओर उसके सीमित भौतिक साधनो द्वारा सीमाबद्ध। अतएव ऐसे कुछ नियम अवश्य होने चाहिए जिनसे ये क्रिया कलाप सीमित हो। ये नियम ही आर्थिक सिद्धान्त की रचना करते है। इसी कारण हम सामाजिक दार्शनिक के अर्थनीतिक विचारों का अध्ययन करने मे प्रवृत्त होते है।

महात्मा गॉधी अर्थशास्त्री नही थे और न ही उनके विचार अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो पर आधारित थे। गॉधी जी के आर्थिक विचारो का मुख्य आधार शोषण रहित, आत्म निर्भर तथा विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना था जिसमे ग्रामीण अर्थ--व्यवस्था का सर्वागीण विकास मानव के आध्यात्मिक विकास को प्रेरित करे। प्रस्तुत लेख मे राष्ट्रपिता के कुछ ऐसे ही विचारो पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

गॉधी जी की आर्थिक विचारधारा का दृष्टिकोण काफी लचीला रहा और उनके

विचार समय की आवश्यकता और मानवता की दृष्टि मे परिवर्तनशील थे । कही महात्मा गॉधी के विचार यन्त्र विरोधी, वर्तमान सभ्यता विरोधी और पूजीवादी विरोधी प्रतीत होते थे, तो कही यन्त्रो से समझौता करने वाले पूजीवादी तत्वो से सहयोग लेने वाले भी दिखाई देते थे । इनके आर्थिक विचार स्वय के अनुभव पर आधारित थे । गॉधी के आर्थिक विचारो पर थोरो, टालस्टाय, रस्किन, कारपेन्टर आदि पाश्चात्य विद्वानो के सामाजिक चिन्तन का प्रभाव पडा है पर गॉधी जी की विचारधारा मूलभूत रूप से भारतीय अर्थ व्यवस्था के अनुरूप थी । गॉधी जी के आर्थिक दर्शन मे भौतिकतावाद से कही अधिक मानवीय मूल्यो का महत्वपूर्ण स्थान था ।

गॉधी जी अर्थशास्त्री के रूप में तथा गॉधी वादी अर्थनीति की विशेषताएं :-

गॉधी जी का कथन है कि आज मानवीय क्रिया कलाप का पूरा सप्तक मिलकर एक अविच्छेय समग्र की रचना करता है एव सामाजिक आर्थिक राजनीतिक एव विशुद्ध धार्मिक कार्य को एक दूसरे से बिल्कुल पृथक नही रखा जा सकता । जीवन के प्रति इस समन्वित दृष्टि ने उन्हे आर्थिक व्यवस्था के बारे मे भी सोचने और कहने के लिए प्रेरित किया । उन्होने कुछ सिद्धान्त बनाये जिन पर आर्थिक सगठन को आधारित होना चाहिए । वस्तुत कभी-कभी वे आर्थिक पहलू पर बहुत अधिक जोर देते थे । स्वर्गीय रवीन्द्र नाथ ठाकुर के एक प्रश्न के उत्तर मे उन्होंने कहा था "परमात्मा भी भूखो मरती जनता के समक्ष जिस एक मात्र स्वीकार्य आदर्श मे अवतरित होने का साहस कर सकता है वह है कार्य एव वेतन के रूप मे भोजन की प्रतिश्रुति " ।

गाधी जी ने अन्य क्षेत्रो की तरह इस क्षेत्र मे कोई प्रबन्ध नही लिखा एव निश्चय ही उन्हे सुविदित अर्थ मे अर्थशास्त्री नही कहा जा सकता तथापि आर्थिक क्रिया कलाप उनके बहुविध कार्यो का सार है।

समाज दार्शनिक के रूप मे गॉधी जी की दिलचस्पी ऐसे आर्थिक ढॉचे की अवधारणा मे थी जिसमे उनके आदर्श की पूर्ति सम्भव हो सके ।

अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र मे भी गॉधी जी के समस्त क्रिया कलाप के मूल मे नैतिक चिन्तन होता है और उसी के कारण आधारभूत नैतिक मूल्य उनके आर्थिक विचारो पर हावी है।

आर्थिक गरीबी आर्थिक अवसरो का अभाव पृथवकरण या हानि तथा शोषण प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करते है तथा ये श्रमिको के उन्नति के मार्ग मे बाधक है। ये व्यक्ति के आत्म-सम्मान को क्षति पहुचाते है तथा व्यक्ति मे वर्तमान निष्ठा तथा विश्वास को समाप्त करते है। गॉधी जी के अनुसार ऐसी विषमता तथा असमानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था मे जिसमे कुछ थोडे से व्यक्ति ही अमीर होते है तथा अधिकाश जनता को जीवन के लिये पर्याप्त भोजन भी नही मिल पाता हो, रामराज्य की स्थापना नही की जा सकती है। पूँजी तथा श्रम एक-दूसरे के पूरक है। अत उनमे किसी भी प्रकार का सघर्ष नही होना चाहिए। पूँजी अपने आप मे बुराई नही है, परन्तु इसका गलत प्रयोग एक बुराई है। अत जब किसी भी अर्थ-व्यवस्था की उपयोगिता जाचनी हो तो निर्धनतम व्यक्ति का हित भी मस्तिष्क मे रखना चाहिए।

यंत्रों पर गॉधी जी के विचार :-

यन्त्रीकरण एव उद्योगो के बारे मे गॉधी जी के विचार जानने से पहले हमे यह जान लेना आवश्यक है कि कुछ लोग यह आरोप लगाते है कि गॉधी जी यत्रीकरण एवं उद्योगवाद के विरूद्ध थे जबकि यह धारणा निराधार है।

गॉधी जी वृहद मशीनो को मानव जाति के लिये अभिशाप मानते थे। उनका विचार था कि समाज मे घृणा, द्वेष तथा स्वार्थ मे जो वृद्धि दिखाई देती है ये सब वृहद यंत्रो के ही प्रयोग का प्रभाव है। मशीनो के प्रयोग के कारण मानव का शारीरिक एव नैतिक पतन हुआ है। मानव मे दास वृत्ति का विकास करता है, मानव के सर्जनात्मक एव कलात्मक शक्तियों का ह्रास करता है। मानव सहयोग के स्थान पर आर्थिक प्रतियोगिता को बल मिलता है, असमानता व शोषण को बढावा मिलता है इत्यादि।

यन्त्रीकरण ने अनेक आर्थिक बुराइयो को जन्म दिया है । यन्त्र मानवीय श्रम का स्थान लेता है । जिससे बेरोजगारी बढती है । यन्त्रो से बडे पैमाने पर उत्पादन होने से अतिउत्पादन की स्थिति होती है, जिससे अर्थ–व्यवस्था मे आर्थिक उच्चावचन होते रहते है । गॉधी जी यत्रीकरण को पाप या बुराई का प्रतिनिधि मानते थे । गॉधी जी के ऊपर यन्त्रीकरण एव उद्योगवाद का विरोधी होने का आरोप लगाते हुए आरोपियो का कहना है कि आदर्श के रूप मे गाधी जी यत्रो को नापसन्द करते थे, उनके पूर्ववर्ती वक्तव्यो से वैसी ही ध्वनि निकलती है । उन्होने आधुनिक सभ्यता की कठोर निन्दा की है और स्वभावत यत्रो की भी जो उनके अनुसार आधुनिक सभ्यता के प्रतीक है उनका कहना है , "यन्त्र बिल के समान है , जिसमे एक से लेकर सैकडों सॉप रह सकते हैं । जहॉ यन्त्र है वही बडे–बडे नगर है, ट्रामे और रेले है , बिजली की रोशनी है । बहुत ही आवेग पूर्वक उन्होने कहा यन्त्रो के सम्बन्ध मे मैं एक भी अच्छी बात नही बता सकता, जबकि उनकी बुराइयो को प्रदर्शित करने के लिए किताबे लिखी जा सकती है ।"[1]

लेकिन गॉधी ने यन्त्रो के सम्बन्ध मे कहा है कि " मै समस्त यन्त्रो एव मिलो को नष्ट करने की चेष्टा नही कर रहा हूँ । इसके लिए जनता आज जितने के लिए प्रस्तुत है उससे उच्चतर सरलता एव त्याग की आवश्यकता है । हमे सावधानी पूर्वक लक्ष्य करना चाहिए कि समस्त यन्त्रों इस शब्द प्रयोग मे कुछ " की ध्वनि है तथा" उच्चतर सरलता और त्याग " की आवश्यकता पूजीवादी जटिलता तथा परिग्रह से बहुत भिन्न है । बाद मे उन्होने स्पष्ट कहा था "यन्त्रो के विलोप पर न तो मै रोउगा और न ही उसे विपत्ति बनूगा किन्तु यन्त्रो के खिलाफ मेरी ऐसी कोई साजिश नही है ।"

1924 मे बेलगाव मे हुए कांग्रेस के उनतालीसवें अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने दुहराया था मेरी कामना यह भी है कि यंत्रो के सम्बन्ध में मुझ पर जो विचार

---

1 हिन्द – स्वराज – 1908

आरोपित किये जाते है । आप उन पर ध्यान न दे जिससे मै सचमुच अप्रसन्न हूँ वह है इस 1900 मील लम्बे तथा 1500 मील चौडे देश मे बिखरे हजारों परिवारो को किसी न किसी तरह निर्वाह करने मे सक्षम बनाने वाले भारत के अद्वितीय उद्योग को अनियत्रित एव अन्यायपूर्ण विनाश ।"

1925 मे उन्होने फिर कहा यत्रो का अपना स्थान है, उनका अस्तित्व स्थायी बन चुका है । किन्तु उन्हे आवश्यक मानव श्रम का स्थान नही लेने दिया जा सकता एक समुन्नत हल अच्छी चीज है । किन्तु यदि सयोग से कोई एक व्यक्ति ही भारत की समस्त भूमि जोत ले और खेती की समस्त पैदावार का नियत्रण करे और लाखो व्यक्तियो के लिये कोई और रोजगार न रहे तो वे भूखों मरेगे और बेकार रहने के कारण जड बन जाएगे ।

इस प्रकार गॉधी जी यह मानते थे कि मशीनरी का प्रयोग अनिवार्य है । वे मशीनों के विरूद्ध नही थे । परन्तु मशीनरी का प्रयोग केवल अनावश्यक श्रम को हटाने के लिये किया जाना चाहिए । वे इसका उपयोग मानव श्रम के स्थानापन्न करने के लिये किये जाने का समर्थन नही करते थे । उनकी मशीनरी के सम्बन्ध में वह धारणा नहीं थी जो आजकल प्रचलित है । उनके अनुसार मशीनरी का उपयोग तब ही उचित है जब इससे जन सामान्य के हितों की पूर्ति होती हो ।

<u>गॉधी जी के विचारों का विकास क्रम : चरखा तथा खादी :–</u>

चरखा बापू की दृष्टि मे ग्राम उद्योग का मध्य बिन्दु है । चरखा तो सूरज है और दूसरे जो उद्योग है वे ग्रह हैं जो सूरज के इर्द गिर्द फिरते रहते है ।"[1] आजाद भारत मे हाथ मे सत्ता आने पर भी पहनने को पर्याप्त वस्त्र न हो, खाने को पेट भर अन्न न हो यह तो बापू के लिये अकल्पनीय था । यदि देश का हर व्यक्ति मात्र एक घण्टा चरखा चलाये तो पूरे देश में कोई भी बिना वस्त्र नही होगा यह तो बापू का खुला

---

1 आत्म कथा पृष्ठ 42

दावा था । 10 दिसम्बर 1947 चरखा सघ के उद्देश्य और कार्य प्रणाली का सविस्तार वर्णन करते हुए कहा – "मै तो कहूँगा कि अगर हम पागल है तो कपडे का घाटा तो हमारे यहा होना ही नही चाहिए । कोई भी मिल न रहे, तब भी घाटा नही होना चाहिये हम आज चरखे को, खद्दर, गाढे को अपनाना भूल गये है । आज कोई खद्दर की धोती पहन लेता है, क्योकि कुछ अभ्यास हो गया , उसको साथ लेकर आजादी की लडाई लडी थी, लेकिन आज वह हमारे जीवन में जिन्दा नही है । यह हमारे लिये दुख की बात है । अगर सबलोग चरखामय बन जाते है तो सब देहात सचमुच समृद्ध बन जाए तो आज जो हाल हम देखते है करूणामय है, वह बनने वाली नही है – मिल के लिये सब सुविधा पैदा की जाती है । हम राज चलाते है उसमे धनपति है, उनकी तो चलती है और जो हलपति है उनकी नही चलती है । मै तो चाहता हूँ कि हर एक देहात मे चरखा गुजन करे और गाढ़े के सिवा कुछ दीखे ही नही । "चरखा स्वावलम्बन और स्वदेशी कला कौशल को दबाया और लंकाशायर, मैनचेस्टर की मिलो को चलाने के लिये कपास का बेइन्तेहा निर्यात किया । अकाल, भुखमरी , गरीबी , अमीरी से जर्जर, अर्धनग्न भारतवासियो के दुख दर्द को मिटाने के अचूक अस्त्र से विदेशी सत्ता तिलमिला गयी । चरखा न केवल राष्ट्रीय आजादी का साथी था अपितु सही अर्थों मे देशवासियो की आर्थिक प्रगति का प्रतीक भी था । अपने एक लेख मे बापू ने कहा -- इसमे मुझे रत्ती भर भी शक नही है कि खादी का अर्थशास्त्र ही देश का सच्चा और फायदेमन्द अर्थशास्त्र हो सकता है ।"[1] उन्होने यह खोज निकाला कि ऐसा प्रमुख सहायक उद्योग चरखा ही हो सकता है, उनके शब्दो मे 1908 मे लदन मे मैने चरखे को खोज निकाला । मै वहा दक्षिणी अफ्रीका के एक प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप मे गया था । उसी समय मै बहुत से निष्ठावान भारतीय छात्रो एव अन्धो के निकट सम्पर्क मे आया । भारत की परिस्थिति के बारे मे हमने लम्बे लम्बे वार्तालाप किये और बिजली की कौध की तरह मुझे दीख गया कि चरखे के बिना स्वराज नही मिल सकता । मुझे तुरन्त ज्ञात हो गया कि हममे से प्रत्येक को सूत कातना पडेगा किन्तु तब मै करघे और चरखे का अन्तर नही जानता था और मैने हिन्द स्वराज मे चरखे के अर्थ मे करघे का प्रयोग किया है

---

1 प्रार्थना प्रवचन 6 नवम्बर 1949

यह उल्लेखनीय है कि आरम्भ मे गॉधी जी ने चरखे को भारत मे वस्त्र की कमी को दूर करने के साधन के रूप मे ग्रहण किया था । वे ठोस और ग्रामीण जीवन का निर्माण चरखे की आधारशिला पर करना चाहते थे । उन्होने इसे प्रत्येक घर के लिए उपयोगी तथा अतिआवश्यक वस्तु तथा राष्ट्रीय समृद्धि तथा स्वतत्रता का प्रतीक बताया वे इस यन्त्र के माध्यम से कुटीर उद्योगो को पुर्नजीवित करना चाहते थे । उनके अनुसार यह हमारे देश के लाखो लोगो के सामान्य उत्पादन कार्य के अलावा अतिरिक्त समय मे पूरक कार्य के द्वारा उनकी आय मे वृद्धि करेगा । उनके अनुसार कुटीर उद्योग ही एक ऐसा कार्य है, जो घर बैठे ही लाखो भारतीय परिवारो की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करेगा । इसके सम्बन्ध मे की गयी आलोचनाओ के सम्बन्ध मे गॉधी जी ने कहा कि यदि बेरोजगारो को कोई अच्छा सा कार्य मिल जाता है तो यह उनके लिए सभी प्रकार की गरीबी दूर करने वाला जादू नही है । यदि कोई व्यक्ति अन्य व्यवसाय करता है तो उसके लिए इसे प्रयुक्त करना आवश्यक नही ।

चरखे का सम्बन्ध खादी से है जो हाथ से बुना हुआ तथा तैयार किया गया कपडा होता है । यह भारत मे आर्थिक स्वतत्रता तथा राष्ट्र के सभी व्यक्तियो के मध्य समानता का प्रतीक है । गॉधी जी खादी को स्वदेशी के सिद्धान्तों को अत्यधिक महत्व पूर्ण उपसिद्धान्त मानते थे । खादी का लक्ष्य भारत के प्रत्येक गॉव को वस्त्र इत्यादि के सम्बन्ध मे आत्म निर्भर बनाना था । उनके अनुसार यह आर्थिक विकेन्द्रकरण तथा बहुसख्यक लोगो के रोजगार तथा भारतीय मानवतावाद की एकता का प्रतीक थी । वे चाहते थे कि देश के शिक्षित लोग न केवल आर्थिक कारणो से बल्कि गरीबो के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये खादी कुर्ते तथा धोती पहने । जवाहरलाल नेहरू ने खद्दर को स्वराज्य स्वतत्रता की विशिष्ट पोषक बताया । गाधी जी अपने जीवन का उद्देश्य, खादी के महत्व का प्रचार करना मानते थे ।

बड़े उद्योगों पर गॉधी जी के विचार :–

बड़े उद्योगो पर गॉधी जी के विचार बडे सुलझे हुए थे । उनका कथन थाकि बडे पैमाने पर उद्योगो को बढावा देने का आवश्यक परिणाम ग्रामवासियो के निष्क्रियता

तथा उनका शोषण होगा । इससे प्रतिस्पर्धा व बाजार तलाश करने की समस्याये उठ खडी होती है गॉधी जी ने लिखा था कि ईश्वर न करे, भारत कभी पशिचम की भाति उद्योगवाद को अपनाये ।"[1] औद्योगीकरण के कारण धन थोडे से व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित हो जाता है और बहुसख्यक वर्ग को अत्यधिक निर्धनता मे अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण राजनैतिक सत्य का भी केन्द्रीकरण हो जाता है जो लोकतन्त्र व मानवीय स्वतत्रता दोनो का शत्रु है ।

गॉधी जी सदैव बडे उद्योगो के विरोधी ही रहे ऐसी बात नही है । गॉधी जी उन बड़े उद्योगो को रखने मे आपत्ति नही करते थे जो सार्वजनिक कल्याण के लिए अनिवार्य है परन्तु ऐसे उद्योग राष्ट्र की सम्पत्ति या राज्य के नियत्रण मे होने चाहिए वे व्यक्ति का ख्याल सबसे रखना चाहते थे । गॉधी जी के शब्दो मे " मै मिल उद्योग का विकास करना चाहता हूँ परन्तु मै इसका विकास देश की कीमत पर नही चाहता ।"[2] गॉधी जी ऐसे उद्योगो को नही चाहते थे जो विनाशकारी हो या शोषण को प्रोत्साहन देने वाले हो । वे बडे उद्योगो के वही तक समर्थक थे जहां तक कि बड़े उद्योग जनता की श्रम शक्ति को चोट नही पहुचाये, गरीबो का शोषण न करे ।

कुटीर उद्योग एवं लघु उद्योग पर गॉधी जी के विचार :-

गॉधी जी वृहद मशीनो से चलने वाले उद्योगो के अपेक्षा हाथ से चलने वाले कुटीर उद्योगो को महत्व देते थे । उनकी मान्यता थी कि बडे पैमाने पर उत्पादन की प्रणाली द्वारा इस संसार मे व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा, देश का अन्य देश द्वारा शोषण सम्भव हुआ है । गॉधी जी का विचार था कि उत्पादन का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए और जहा तक सम्भव हो उत्पादन मनुष्यों के हस्त कौशल एव पशुओ के श्रम द्वारा सचालित कुटीर उद्योगो के माध्यम से होना चाहिए । उनकी मान्यता थी कि चरखे द्वारा सूत कताई

---

1 यग इण्डिया 20, दिसम्बर 1928 के अक मे

2. आत्म कथा

व खद्दर की बुनाई, चावल कूटना, मिट्टी के बर्तन बनाना तथा तेल घाणी आदि एसे कुटीर – उद्योग है जिन्हे प्राय मानव अविष्कारो के कारण छोडता जा रहा है, उन्हे प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए । गॉधी जी क्षेत्रीय आर्थिक , आत्मनिर्भरता लाने के लिये कुटीर एव ग्रामोद्योगो की स्थापना पर बहुत बल देते थे । ये उद्योग आर्थिक एव सामाजिक तनाव कम करने के लिये सहायक होते है। गॉधी जी के शब्दो मे "यदि ग्रामीण अर्थव्यवस्था नष्ट होती है तो सम्पूर्ण भारत भी नष्ट हो जाएगा । ग्रामीण उद्योगो का विनाश भारत क 7 लाख गॉवो को नष्ट कर देगा ।"[1]

विकेन्द्रीकरण :–

गॉधी जी का विचार था कि विकास के लिए आवश्यक है कि सभी क्षेत्रो मे विकेन्द्रीकरण हो । इसी आधार पर वे नव–भारत का निर्माण करना चाहते थे । उनका विचार था कि, " यदि भारत अहिंसात्मक मार्ग पर चलना चाहता है तो मेरे सुझाव मे उसे बहुत सी चीजो को विकेन्द्रित करना पडेगा । केन्द्रीकरण को न तो अधिकतम समय तक ठहरने देना ठीक है और न ही उपयुक्त बल के अभाव मे उसकी रक्षा करनी ही ठीक है । झोपडी जिसमे चोरी के लिये कोई वस्तु ही नही होती, पुलिस की सुरक्षा की आवश्यकता नही समझते ।"[2]

गॉधी जी का विचार था कि केन्द्रीकरण से ही युद्धो और हिंसा को बल मिलता है । अत अहिसात्मक प्रणाली के सम्यक विकास हेतु केन्द्रीकरण त्यागना अपरिहार्य है ।

जबकि आज स्थिति यह है कि चाहे कोई भी क्षेत्र हो, केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति ही पनप रही है, जिसके चलते चोरी, भ्रष्टाचार, अराजकता, अनैतिकता आदि की वृद्धि हो रही है, जो देश के विकास मे बाधक है ।

---

1 आत्म–कथा

2. आत्म–कथा

आज यह निर्विवाद है कि जितना अधिक मानव अपनी मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कम से कम स्वावलम्बी और अधिकाधिक परावलम्बी होगा, खाने - पहनने के मामले मे वह किसी केन्द्रीय सत्ता या साधन पर अवलम्बित होगा , वह अधिकाधिक शोषण का शिकार होगा । अर्थ, सत्ता और साधनो के इस केन्द्रीकरण से असमानता बढेगी तथा उस केन्द्रीकरण तथा उससे उत्पन्न विषमता की रक्षा के लिए अधिकाधिक हिसा की शक्तियो के युद्ध दैत्य को खुलकर खेलने के अवसर बढते जाएगे और इस तरह देश का विकास बाधित होगा ।

गाँधी जी ने लघु एव कुटीर उद्योगो पर बल इसलिए अधिक दिया कि इनमे मानवीय शक्ति का अधिकाधिक प्रयोग सम्भव है । गाँधी जी की मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका के लिये कुछ न कुछ शारीरिक परिश्रम अवश्य करना चाहिए गाँधी जी इस प्रकार के श्रम को "रोटी का श्रम" की सज्ञा देते थे और जो बिना रोटी के श्रम से अपना पेट भरते है वे समाज के चोर है ।

गाँधी जी के द्वारा कुटीर उद्योग धन्धो पर आधारित एक ऐसी विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया जिसके अर्न्तगत प्रत्येक गाँव एक आर्थिक इकाई के रूप मे कार्य करेगा । भारत गाँवो का देश है यदि गाँव स्वावलम्बी हो जाये तो अनेक आर्थिक समस्याओ का स्वत ही अन्त हो जायेगा । गाँधी जी के शब्दो मे सरकार देश के कच्चे माल का अधिकाधिक उपयोग करने के लिये औद्योगीकरण की योजनाए लागू कर रही हैं लेकिन देश की अपार पडी जनशक्ति के प्रभावपूर्ण प्रयोग की कोई कारगर योजना नही बना पा रही है और काम के अभाव मे हमारी अपार जन शक्ति बर्बाद हो रही है ।"[1] बेरोजगार समस्या को हल करने के लिये लघु कुटीर उद्योग रामबाण औषधि का कार्य करते है ।

श्रम का महत्व (रोटी तथा श्रम):-

मानवतावादी, व्यक्तिवादी तथा विचारो से परिपूर्ण गाँधी जी ने व्यक्तित्व की

---

1 आत्म-कथा

चेतना को महत्व दिया तथा प्रत्येक व्यक्ति के चाहे वह गरीब ही क्यो न हो महत्व को पहचाना । इस सम्बन्ध मे गॉधी जी वर्णाश्रम के प्राचीन भारतीय आदर्श को मानते थे । किन्तु आलसी बुद्धिजीवियो, मध्यमवर्गीय और आराम पसन्द अमीरो के जीवन को देखकर वे यह खूब अनुभव करते थे कि यदि शरीर श्रम समाज के किसी वर्ग विशेष के ऊपर ही थोप दिया जाएगा तो फिर उत्पादक श्रम के प्रति समाज मे एक प्रकार का विकर्षण और घृणा का भाव पैदा हो जाएगा । बिना हाथ पैर हिलाए डुलाए मनुष्य का स्वास्थ्य भी ठीक नही रह सकता । इस सम्बन्ध मे गॉधी जी ने अशदान करने वाले दानी वर्ग के व्यक्तियो द्वारा गरीबो पर की जाने वाली कृपा को गरीबी का अपमान समझा । उनके शब्दो मे "मै नगे रहने वाले व्यक्तियो को कपडे देकर उनका अपमान नही कर सकता हूँ । क्योकि उन्हे कपडो की आवश्यकता नही है । इसके बजाय मुझे उन्हें काम देना चाहिए जिस की उन्हे अत्यधिक आवश्यकता है ।" वे बेरोजगार तथा भूखे लोगो के कार्य करना चाहते थे । उनके मस्तिष्क मे यह विचार कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने शारीरिक श्रम से उपार्जित किया गया भोजन ग्रहण करना चाहिए, गीता की देन थी । इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "जो व्यक्ति बिना श्रम किये भोजन ग्रहण करता है वह पाप का अन्न ग्रहण करता है ।"[1]

गॉधी जी के अनुसार श्रम से तात्पर्य के लिये किये जाने वाले श्रम से था गॉधी जी चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने भोजन के लिये कार्य करना चाहिए एव कोई भी व्यक्ति इस उत्तरदायित्व की पूर्ति से बच नही सकता है । अपने इस विद्धान्त के सम्बन्ध मे उनका यह विश्वास था कि "यह सामाजिक ढॉचे मे मूल क्रान्ति उत्पन्न करेगा तथा समाज मे श्रम तथा पूजी के मध्य सघर्ष तथा गरीब एव अमीर के मध्य की खाई को समाप्त करेगा । समाज मे अस्तित्व के लिये किये जाने वाले सघर्ष मे परिवर्तित हो जाएगा । इस समाज मे अमीर व्यक्ति तो होगे परन्तु वे स्वय को अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी मानते हुए इसका उपयोग सार्वजनिक हित मे करेगे ।"[2]

---

1 गीता

2 आत्म–कथा पृष्ठ

स्वदेशी – एक साधन न कि साध्य :-

स्वदेश से तात्पर्य है हमारा अपना देश स्वदेश की भावना हमे तात्कालिक निकटवर्तियो की सेवा करने से रोकती है । यह एक लक्ष्य है, जिसका शीघ्र ज्ञान होना चाहिए । उन्होने इसे धार्मिक अनुशासन माना है जो भौतिक पीडा या व्यथा को उदासीनता रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए । इस उन्होने गृह उद्योग या देशी उद्योगो के लिए आवश्यक माना है । परन्तु वे ऐसे सकीर्ण विचार धारा वाले स्वदेशी नही थे जो विदेशो से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को अस्वीकृत करते । उनके शब्दो मे " प्रत्येक वस्तु स्वदेशी है , यदि वह लाखो भारतीयो के हितो को पूरा करती है, भले ही ऐसी वस्तु प्रभावी भारतीय नियत्रण के अर्न्तगत आने वाली पूजी तथा प्रतिभा क्यो न हो ।"[1] उनके शब्दो मे "स्वदेशी यद्यपि प्रत्येक विदेशी वस्तु के बहिष्कार " से सम्बन्धित धारणा है परन्तु फिर भी इसे सकीर्ण धारणा नही माना जा सकता है ।

पूँजी और श्रम :-

गाँधी जी ने लिखा – " पूँजी से श्रम कहा अधिक महत्वपूर्ण है । बिना श्रम के सोना चाँदी ताम्बा आदि सब व्यर्थ का बोझ बन जाएगा । श्रम के द्वारा ही पृथ्वी -- तल से बहुमूल्य खनिज पदार्थ निकाले जाते है ।[2] इस प्रकार वे मार्क्स द्वारा प्रतिपादित मूल्य के विषय मे श्रम सिद्वान्त के समीप आ गये थे । उन्होने मार्क्स की तरह यह सोचा कि पूँजी के विरूद्ध यदि श्रमिको को सगठित किया जाय तो फिर पूँजीवाद का महल ढह जाएगा । फिर भी वे न तो मालिको के खिलाफ मजदूरो को उकसाते ही थे और न जबरदस्ती मालिको को हटाने की ही बात करते थे ।ऐसा करना तो अहिसा के विपरीत घृणा पर आधारित वर्ग–सघर्ष को प्रश्रय देना होगा । कोई भी समाज घृणा एव हिसा के आधार पर प्रगति नही कर सकता है । जिस प्रकार मजदूरो को उचित मजदूरी नही देना पूँजीपतियो के लिये अनैतिक काम है

---

1 आत्म–कथा पृष्ठ

2 हरिजन 7 9 1947

इसीलिए गॉधी जी पूँजी और श्रम मालिक और मजदूर के बीच समन्वय चाहत थे मानव मे अन्तर्निहित अच्छाई मे विश्वास मार्क्स के वर्ग–सघर्ष को अस्वीकार करता है । मार्क्स के अनुसार मानव अपनी आवश्यकताओ को तब तक बढाता चला जाएगा जब तक सर्वहारा वर्ग ही स्वय सत्ता मे न आ जाय ।

गॉधी जी का ट्रस्टीशिप–सिद्धान्त :–

गॉधी जी ने यह समझा था कि मानव के हृदय मे प्रेम और विवेक की भावना को जागृत कर मालिको को यह समझना चाहिए कि उनके पास जो कुछ भी पूँजी है वह तो श्रमिको की ही कमाई का फल है । इसलिए मालिको को स्वय अपने को उस सम्पत्ति का सरक्षक मानना चाहिए । इस सम्पत्ति का विनियोग भी जनकल्याण कि लिये ही करना चाहिए । व्यक्तिगत सम्पत्ति सग्रह करने के खतरो और बुराइयो को समझना चाहिए । उसके हित मे भी यही ठीक होगा कि वह केवल अपने व्यक्तिगत ऐशो – आराम मे उस पैसे को खर्च नही कर उसे जनता की भलाई के काम मे लगावे इस प्रकार पूँजीपति केवल सरक्षक की तरह रहे । जब इस प्रकार की स्थिति हो जाएगी तो फिर मालिक और मजदूर का भेद ही मिट जाएगा । मजदूरो को भी अच्छा भोजन, अच्छे मकान, बच्चो की सुन्दर शिक्षा दवा आदि का अच्छा प्रबन्ध रहेगा

गॉधी जी ने ट्रस्टीशिप की कल्पना इग्लैण्ड मे अपने प्रारम्भिक जीवन मे कानून के अध्ययन के सिलसिले मे ग्रहण की थी । फिर गीता मे भी इसका भाव उन्हे मिला । इस सिद्धान्त का प्रयोग उन्होने प्रचलित आर्थिक विषमता को दूर करन के लिए किया । उनकी यह मान्यता थी कि समाज की विषमता का तब तक उन्मूलन नही हो सकता जब तक समाज का प्रत्येक अग चाहे वह धनी हो या गरीब अपने कर्तव्य और दोषो के प्रति नैतिक रूप से सचेत और जागृत न हो जाय । यह चेतना प्रेम के माध्यम से और विवेक को आग्रह कर ली जा सकती है । स्वार्थ और लोभ ईर्ष्या और द्वेष आदि की भावनाओ को सहज और सस्ते ढग से गरीबो मे जागृत करना सचमुच नैतिक रूप से पतित करना है । यदि इस प्रकार के अनैतिक सघर्षो के

द्वारा मजदूरो की विजय भी हो जाती है , तब भी उन्हे सच्चा सुख नही मिल पाता । अपमानित और पराजित पूँजी पति और उनके लोग फिर इस ताक मे रहेगे कि मजदूरो की एकता भग हो जाए और उनका आन्दोलन टूट जाय । किन्तु हृदय परिवर्तन एव नैतिक चेतना के जागरण मे आन्दोलन धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली होता है और फिर प्रभाव भी व्यापक होता है ।

गाँधी जी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त केवल ऐसी सचयी सम्पत्ति के सम्बन्ध मे लागू होता है, जो आवश्यकता से अधिक है । ऐसे व्यक्तियो के जिनके पास आवश्यकता से अधिक धन-सम्पदा का सचय है, सम्बन्ध मे यह आवश्यक नही है कि वे अपनी सम्पत्ति का निपटारा कर दे, बल्कि उन्हे चाहिये कि वे ऐसी सम्पत्ति का जनहित में धारण करे । मूल ट्रस्टी को सरकार से परामर्श करने के पश्चात अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने का अधिकार है । गाँधी जी के शब्दो मे – "ट्रस्टी का जनता के अतिरिक्त अन्य कोई उत्तराधिकारी नही होगा ।"[1] इस प्रकार गाँधी जी अनर्जित आय तथा उत्तराधिकार के परिणामस्वरूप बढने वाली अमीरी को रोकने के लिए ट्रस्ट की सम्पत्ति पर राज्य का नियत्रण स्थापित किये जाने का समर्थन करते थे । उनके अनुसार यदि अमीर लोग एक बार भी इस सिद्धान्त को स्वीकार कर ले तो कोई भी व्यक्ति अभाव मे न रहे । सभी व्यक्ति सुख शान्ति की अवस्था मे रहे तथा आर्थिक असुरक्षा का खतरा भी टल जाए

सम्पत्ति के अधिकार का औचित्य केवल सर्वोदय के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है । अत उनके अनुसार यदि सम्पत्ति का समान वितरण सम्भव नही हो पाये तो सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण किया जाना चाहिये । गाँधी जी की यह विचारधारा मार्क्स की इस विचारधारा के कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार सम्पत्ति मिले काफी निकट है ।

---

1 आत्म-कथा पृष्ठ

समाज की आदर्श अर्थ-व्यवस्था :-

यद्यपि पूर्ण समता गॉधी जी का आदर्श था, फिर भी वे यह मानते थे कि मानव की अर्न्तनिहित दुर्बलताओ के कारण पूर्ण समझना असम्भव है । हम देखत हैं कि यदि लोगो को समान अवसर भी मिलता है और समान काम के लिये उन्हे समान मजदूरी दी जाती है फिर भी कोई अधिक उपार्जन कर लेता है कोई कम.। अत कानून के माध्यम से कृत्रिम रूप से समानता लाने से व्यक्तिगत पुरूषार्थ और नैतिक विकास के लिये अवसर ही नही रहेगा । इसके लिए तो हमे फिर अहिसा और प्रेम के सिद्धान्त का सहारा लेकर जीवन मे अपरिग्रह एवं अस्तेयव्रत की ही साधना करनी पडेगी । अहिंसक समाज-व्यवस्था मे ही शोषण का सम्पूर्ण अन्त हो सकता है । अस्तेय व्रत के पालन से हममे यह भावना दृढ हो गी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति पर अधिकार है । दूसरो की सम्पत्ति लेना उसका अधिकार छीनना है । इसलिये जिस सम्पत्ति का हम अपने परिश्रम से अर्जन नही करते उस पर लोभ करने की हमारी वृत्ति का स्वत सवरण हो जाएगा । दूसरी ओर अपरिग्रह व्रत की साधना से हम यह सीख सकेंगे कि हमें कोई अनावश्यक वस्तु नही रखनी चाहिये । यदि आवश्यकता से अधिक हमारे पास कुछ है तो हम उसे दूसरो की भलाई के लिये ही खर्च करे । यद्यपि ये सब कठिन आदर्श है फिर भी इनके पालन के बिना सच्ची समता के लियेनतो हमारा मानस तैयार हो सकेगा और न समाज मे इसके लिए उपयुक्त वातावरण ही बन सकेगा । गॉधी जी इसलिये सबका साराश एक वाक्य मे रख देते हैं -- " यदि हमे अपने पडोसियो के लिए प्रेम और सहानुभूति नही है तो कोई भी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना व्यर्थ होगा ।"[1] अस्तेय एव अपरिग्रहव्रत के पालन से ही ससार में दरिद्रता और आर्थिक असमानता दूर हो सकती है ।

सर्वोत्तम योजना :-

गॉधी जी का कथन है कि योजना या नियोजन का उद्देश्य मानव शक्ति का सही ढंग से उपभोग करना होना चाहिये एवं कोई भी योजना जो मानव शक्ति की अवहेलना करती है असन्तुलित होने के कारण मानवीय समानता को स्थापित करने मे असमर्थ है

---

1 आत्म-कथा, पृष्ठ

वास्तविक नियोजन मानव शक्ति के उत्पादन तथा उत्पादक के वितरण के सम्बन्ध मे सर्वोत्तम ढग प्रयुक्त किये जाने मे निहित है ।

ग्रामीण विकास पर गॉधी वादी दृष्टिकोण :-

स्वतत्रता के बाद के 45 वर्षो के दौरान भारत की आम जनता ने विश्व को दिखा दिया है कि यद्यपि उनमे से अधिकाश लोग अनपढ है लेकिन उन्हे नैतिक और सामाजिक आदर्शो के मूल सिद्धान्तो का ज्ञान है । उन्होने ऋषि मुनियो और साधु-सन्तो के हजारो वर्षो से मिले उपदेशो को आत्मसात किया है । इसी के साथ इन लोगो को ग्रामीण स्वशासन की एक व्यवस्था, पचायती राज अथवा लोगों द्वारा निर्वाचित पचो (बडे बूढों) का शासन भी विरासत मे मिला है । स्थानीय स्वशासन अथवा प्रत्यक्ष लोकतत्र की इन इकाइयो ने भारतीय सभ्यता को स्थिरता प्रदान की है और उसकी रक्षा की इन इकाइयो का आधारनैतिकता और सर्वमान्य सामाजिक व्यवस्था थी । इसी कारण स्वतत्रता आन्दोलन के दौरान भी सभी राजनीतिक दलो के नेताओ ने यह स्पष्ट कर दिया था कि स्वतंत्र भारत मे लोकतात्रिक राजनीतिक व्यवस्था कायम की जायेगी यानी भारत का शासन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो के हाथो में होगा । इसी तरह, इस स्वतत्रता आदोलन के दौरान ही भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने, जो आन्दोलन मे प्रमुख भूमिका निबाह रही थी, योजनाबद्ध आर्थिक विकास और आधुनिक उद्योगो तथा प्रौद्योगिकी के जरिए कृषि पर आधारित उद्योगो के विकास पर विचार किया और उसे स्वीकार किया ।

मै यहा सक्षेप मे आर्थिक क्षेत्र मे गॉधी जी के विचारो पर चर्चा करना चाहूँगा गॉधी जी न केवल ऐसे नेता थे, जिन्होने अहिसा आन्दोलन के जरिए देश को स्वतंत्रता दिलाई, बल्कि ऐसे व्यक्ति थे जिनकी जीवन के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं के प्रति गहरी अर्न्तदृष्टि थी । अन्य महान पुरूषों की तरह, वह मनुष्य और जीवन पर उसके समग्र रूप मे विचार करते थे । उन्होंने वास्तव मे जीवन के सभी पहलुओं पर अपने विचार लिपिबद्ध किये और प्रकट किये । उनका तत्वज्ञान सृष्टि के रचयिता ईश्वर के अस्तित्व मे गहन आस्था पर आधारित था । वह मनुष्य सहित ईश्वर की सभी रचनाओ

मे सामजस्य करने का प्रयत्न करते थे । इसलिए उन्होने विभिन्न सघर्षरत हितों के बीच, चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक क्षेत्र मे थे, शान्तिपूर्ण समन्वय का प्रयत्न किया । आर्थिक क्षेत्र मे, चाहे 1920 के दशक मे मालिको के विरूद्ध कपडा मजदूरो का आन्दोलन था अथवा भूमि सुधारो और किसानो के अधिकारो की मागो के समर्थन मे आन्दोलन, जिसका नेतृत्व उन्होने चम्पारण मे किया था , गाँधी जी ने सत्याग्रह अथवा सत्य के लिए आग्रह के अहिंसक दृष्टिकोण पर जोर दिया । उन्होने विपक्षियो पर हिंसक तरीको से दबाव डालने के प्रयत्नो का सदैव विरोध किया । उनका कहना था कि जमीदारो को अपने को काश्तकारो, भूमिहीनो और शेष समाज के लोगो का ट्रस्टी समझना चाहिए और उनके प्रति उनका आचरण ऐसा ही होना चाहिये । उन्होने विकेन्द्रीकृत और कृषि आधारित कुटीर और छोटे उद्योग क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था विकसित कर करने के लिए आर्थिक विशेषज्ञो से सहायता मागी । वह आशा करते थे कि इस तरह की सामाजिक – आर्थिक अर्थ व्यवस्था का विकास होने पर भारत की अधिकाश जनता जो गाँवो मे रहती है अपनी अन्न, कपडे और मकान जैसी दैनिक बुनियादी आवश्यकताओ के मामले मे आत्म–निर्भर हो जाएगी । वे आधुनिक औद्योगिक प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके बडे – कारखानो की स्थापना और केन्द्रीकृत उत्पादन के विरूद्ध काम कर रहे अनेक लोगो जैसे कि कपडा क्षेत्र मे लगे लोगो को रोजगार से हाथ धोना पड़ेगा ।

मै यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि गाँधी जी आधुनिक सचार साधनो जैसे कि रेलो, जहाजो, मोटर गाड़ियों और विमानो के विरूद्ध नहीं थे । वे चिकित्सा, शल्य चिकित्सा और अनुसधान एव विकास के अन्य क्षेत्रो मे आधुनिक वैज्ञानिक गतिविधियो के विरूद्ध भी नही थे । वह अक्सर रेलगाडी से यात्रा करते थे और उन्होने अपेनडिक्स (आत के उपांग) का आपरेशन करवाया था । गाँधी जी स्वय सुशिक्षित आधुनिक बैरिस्टर थे । वह कट्टरपंथी नही थे । वह जानते थे कि इस्पात, रेलवे इजन, रेल के डिब्बो मोटर गाड़ियो, बसो, बडे जहाजों, विमानो और इसी तरह बडी मशीनो आदि का निर्माण केवल केन्द्रीकृत उत्पादन के तरीको से किया जा सकता है । लेकिन इन मामलो मे भी

वह इस बात पर जोर देते थे कि सहायक हिस्से पुर्जो आदि का उत्पादन विकेन्द्रीकृत आधार पर किया जाए जैसा कि आज जापान जैसे देशो मे किया जा रहा है । इसलिए गाँधी वादी अर्थ व्यवस्था की सही व्याख्या की जाए तो यह आर्थिक उत्पादन और वितरण के क्षेत्र मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करती है । इसे आर्थिक क्षेत्र का मध्य मार्ग भी कहा जा सकता है । अगर सही सदर्भ मे, परिप्रेक्ष्य मे विचार किया जाए तो विकेन्द्रीकृत उत्पादन और वितरण की गाँधीवादी व्यवस्था स्वामित्व के केन्द्रीकरण, उत्पादन के साधनो पर नियत्रण और परिणामस्वरूप पूजी निर्माण पर रोक लगाती है । सभी जानते है कि कुछ थोडे लोगो के हाथो मे इस अतिरिक्त पूँजी के सग्रह और नियत्रण के कारण इन थोडे लोगो द्वारा अधिक लोगो का राजनीतिक और आर्थिक शोषण होता है ।

इस प्रकार यह किसी एक व्यक्ति का दोष नही, बल्कि व्यवस्था का दोष है, जो पूर्ववर्ती सामन्तवादी प्रथा की तरह कुछ ही लोगो के हाथो मे अथवा गुटो के हाथो मे आर्थिक और राजनीतिक सत्ता केन्द्रीकृत कर देती है । इन लोगो अथवा गुटो को कम्पनी कार्टेल बहुराष्ट्रीय एजेसी, निगम आदि अलग-अलग नामो से जाना जाता है । इस तरह अधिकार और सत्ता की वह अनैतिक दौड़ शुरू हो जाती है, जो इस बात की चिन्ता नही करती कि इसका देश के भीतर और बाहर लाखो लोगो के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा ।

भारत जैसे देश मे जहाँ आज भी जनसंख्या का 70 प्रतिशत से अधिक भाग कृषि और कृषि उद्योगो के सहारे अपना गुजर-बसर करता है, योजनाबद्ध विकास की सम्पूर्ण सकल्पना का उद्देश्य देश के ग्रामीण क्षेत्रो मे फैली जनसख्या के लिए विकास के अवसर बढाना होना चाहिए । वास्तव मे इतने सारे लोगो के जीवन को बेहतर बनाने का इसके अलावा और कोई आसान तरीका नही है । इस तरह के योजनाबद्ध विकास में यह व्यवस्था होनी चाहिए कि उपभोक्ता वस्तुओ का उत्पादन करने वाले उद्योगो की स्थापना ग्रामीण क्षेत्रो मे ही की जाय और उन्हे वही फलने-फूलने के अवसर प्रदान किये

जॉए । इससे निरतर बढती ग्रामीण युवको की जनसख्या को अपने रहने के स्थान के आसपास ही बडे पैमाने पर रोजगार मिल जाएगा । निस्सन्देह यह स्वावलम्बी ग्रामीण अर्थ व्यवस्था की परम्परागत सकल्पना के अनुसार होगा । जब तक उपभोक्ता माल के विकेन्द्रीकृत उत्पादन द्वारा यह नही किया जाता कि ग्रामीण क्षेत्रो मे लोगो की क्रय शक्ति बढे और वहा बाजारो का विकास हो तब तक ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी की समस्या का उग्र रूप धारण करने का गम्भीर खतरा है । उस हालत मे लोग बडे पैमाने पर ग्रामीण क्षेत्रो से नगरो को पलायन शुरू कर सकते है । भीडभाड़ भरे नगरो मे इन लोगो के आने से न केवल आर्थिक समस्याएं उत्पन्न होगी बल्कि सफाई और नैतिक मूल्यो मे शिथिलता सम्बन्धी समस्याए भी पैदा होगी । इससे आर्थिक और राजनीतिक तनाव भी बढ़ेगे । भीडभाड से भरे इन नगरो मे होने वाला पर्यावरण प्रदूषण पास – पडोस की सफाई और लोगो के स्वास्थ्य दोनो के लिये हानिकारक है ।

इस सन्दर्भ मे नरसिम्ह राव सरकार ने सुधार के जो उपाय किये उनमे सबसे दूरगामी और उल्लेखनीय है 73वॉ सविधान (संशोधन) अधिनियम 1992, जो ग्रामीण स्तर तक राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण का मार्ग प्रशस्त करता है । आशा है कि इस दीर्घ प्रतीक्षित उपाय से प्रत्येक ग्राम मे स्वराज लाने का गॉधी जी का स्वप्न सत्य होगा । प्रत्येक गॉव को एक गणतत्र अथवा पचायत माना जायगा और उसे अपना भाग्य निर्धारित करने और इच्छानुसार विकास करने का पूरा अधिकार होगा ।

इस महत्वपूर्ण कानून का उद्देश्य सर्वत्र सन्तुलित आर्थिक विकास सुनिश्चत करना और ग्राम स्तर पर जनता को राजनीतिक और वित्तीय सत्ता सौपना है । गॉधी जी और विनोवा भावे ने ऐसे ही ग्राम स्वराज की कल्पना की थी । भारतीय ग्राम के आर्थिक ढाचे मे सद्भावपूर्ण आत्म–निर्भरता की व्यवस्था की गई थी । परम्परागत रूप से किसी समुदाय को गॉव का स्वरूप तभी मिलता था जब स्थिर ग्रामीण जीवन के लिए आवश्यक सभी या अधिकाश सुविधाए ग्राम मे ही उपलब्ध होती थी । औद्योगिक समाज के विकसित

होने के साथ गॉव का जीवन और उसकी स्वावलम्बी अर्थ व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई । ग्रामीण जनसख्या का एक बडा भाग, जो सदियो से अपने परम्परागत पेशो पर निर्भर करता था, अपने जीविका अर्जन के साधनों से वचित हो गया । नये समाज ने उन्हें ग्रामीण क्षेत्रो मे वैकल्पिक जीविका अर्जन के साधन उपलब्ध नही कराए । ग्रामीणो को या तो भूमिहीन बन कर गॉवो मे मजदूरी करनी पडी अथवा उन्हे काम की तलाश मे अनिच्छा से नगरो को जाना पडा ।

कृषि पर आधारित उद्योगो और उपभोक्ता सामान को तैयार करने से ही हमारी विशाल जनसख्या को समुचित रोजगार मिल सकता है और उनका सतुलित विकास सुनिश्चित किया जा सकता है । हमे यह बात समझ लेनी चाहिए कि बाजार अर्थ व्यवस्था तभी न्यायपूर्ण ढग से कार्य कर सकती है, जब समाज के सभी लोग उस बाजार मे भाग लेने की स्थिति मे हो । जब बहुसख्यक लोगो के पास पर्याप्त क्रय शक्ति नही होती, तब बाजार अर्थ व्यवस्था का अर्थ होता है अभिजात वर्ग या उपभोक्ता सस्कृति के थोडे से पृष्ठ पोषको के लाभ के लिए बहुसख्यक जनता का शोषण । इसलिए, आर्थिक सुधार भारतीय परिस्थितियो के अनुरूप होने चाहिए ।

निश्चय ही, पचायती राज पर सविधान सशोधन अधिनियम यह सुनिश्चित करेगा कि अब पचायती राज सस्थाए अफसरशाही के मनमाने आदेशो को लागू करने का साधन मात्र न रहे । अब गॉव के लोग पंचायतो की नई तस्वीर निर्धारण करेगे । यह अधिनियम ग्रामीण भारत मे उत्तरदायी और अनुकूल प्रशासन की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा – दूसरे शब्दो मे सच्चे पंचायती राज्य की स्थापना -- जनता को प्रशासकीय और वित्तीय दोनो अधिकार प्रदान करके की जाएगी , सत्ता का श्रोत अब केवल उतनी दूर होगा जितना पचायत घर, अब सत्ता का केन्द्र सुदूर प्रान्त या देश की राजधानी नहीं होगा । और इस प्रकार वोट देने वाले लोगो को ही अपनी इच्छाओ – आकाक्षाओ को मूर्त रूप प्रदान करने का अधिकार होगा । इस तरह सत्ता के दलालो की भूमिका समाप्त हो जाएगी ।

यहाँ पर मै आपको चौकस करने के लिए कुछ कहना चाहूँगा । केवल एक निर्वाचित सस्था की व्यवस्था करने से ही, चाहे वह सस्था कितनी ही प्रभावशाली और उसका आधार कितना ही व्यापक क्यो न हो, गॉवो मे रहने वाले लोगो की समस्याओ का समाधान नही किया जा सकता । यह बात याद रखी जानी चाहिए कि स्वतत्रता के बाद देश मे जो पचायतराज व्यवस्था शुरू की गई, वह सफल नही हो सकी । इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय विकसित हो रहे औद्योगिक समाज मे केन्द्रीकरण पर जोर दिया जा रहा था, अत वह अप्रासगिक हो गई थी । केन्द्रीकरण की यह भावना पूँजीवादी और साम्यवादी दोनो मे समान रूप से है । दोनो बडी मशीनो से लाभप्रद तरीके से माल तैयार करने मे विश्वास करते है और बडी सख्या मे लोगो को बेकार बनाते है अत यह जरूरी है कि राजनीतिक दृष्टि से विकेन्द्रीकृत पचायती राज आर्थिक दृष्टि से 'ग्राम स्वराज' बने ।

पचायती राज का विचार मूलत इस सिद्धान्त पर आधारित है कि लोगो को अपने मामलों का प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी सौपी जाए । क्योंकि यह लोगो को ही मालूम होता है कि उनकी समस्याए क्या है, उनकी प्राथमिकताए क्या है और कैसे उनकी आवश्यकताओ को सर्वोत्तम तरीके से पूरा किया जा सकता है । वे लोग इस बात को भली भाँति जानते है कि उनकी तकलीफों की एक मात्र सजीवनी रोजगार है । हमे नीति सम्बन्धी यह निर्णय करना पडेगा कि सभी उपभोक्ता सामान जो विकेन्द्रीकृत और श्रम-बहुल कुटीर उद्योग क्षेत्र मे बनाया जा सकता है वही बनाया जाए । हमे यह भी सुनिश्चित करना होगा कि यह निर्णय पूरी तरह से लागू किया जाए । इसके लिए हमे कारखानो मे इस तरह की वस्तुओ के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाना होगा । इस तरह की वस्तुओ के उत्पादन का विकेन्द्रीकरण करना होगा और ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि इन वस्तुओ का उत्पादन देश भर मे अलग-अलग स्थानो मे किया जाए । आधुनिक औद्योगिकी और वैज्ञानिक विकास के कारण अब यह सम्भव हो गया है कि गॉवो मे या जिले के भीतर ऐसे छोटे-छोटे कारखानो की स्थापना की जाए जहाँ उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ की लगभग हर वस्तु का उत्पादन किया जाए । यह सोचना सही नही है कि विकेन्द्रीकृत

तरीके से सामान का उत्पादन नही किया जा सकता । यह सम्भव है कि मोटर से चलने वाली मशीनो या औजारो से विकेन्द्रीकृत आधार पर इन वस्तुओ का उत्पादन किया जाए यह ग्रामीण क्षेत्रो मे विभिन्न उद्यमो के प्रचलन की हमारी राष्ट्रीय परम्परा के अनुरूप होगा इसमे अन्तर केवल यह होगा कि उद्यमो का यह आधुनिक वितरण जाति व्यवस्था पर आधारित नही होगा ।

यह विचार तभी सफल हो सकता है अगर हम बहुत बडे पैमाने और उचित मूल्यो पर बुनियादी सुविधाए उपलब्ध करा सके । इस तरह की बुनियादी सुविधाओ मे शामिल है, बिजली, बुनियादी धातु जैसे कि इस्पात और अल्युमिनियम, प्लास्टिक, कृत्रिम तागा रेशा , उर्वरक, सडकें और सचार के अन्य साधन, भडारण और बिक्री बुनियादी सुविधा के इन निवेशो का उत्पादन केवल बडे कारखानो मे किया जा सकता है, जिन पर पूँजी भी अधिक लगती है । लेकिन यहॉ भी आधुनिक प्रौद्योगिकी के कारण बिजली, इस्पात, कोयले आदि का उत्पादन मझोले और लघु उद्योग क्षेत्र मे किया जा सकता है । हमे निहित स्वार्थों के इस दबाव का विरोध करना चाहिए कि मझोले और लघु उद्योग क्षेत्र मे इन वस्तुओं का उत्पादन नही किया जाए । अन्तिम उद्देश्य यह होना चाहिए इन निविष्टियो का न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन हो । इस तरह तैयार निविष्टियो के दाम अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दृष्टि से उचित और प्रतियोगी होना चाहिए मै सोचता हूँ कि ग्रामीण विकास के लिए सबसे बुनियादी और आवश्यक बुनियादी सुविधा बिजली है । विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत इस क्षेत्र में हुई जोरदार प्रगति के बावजूद हजारो गॉव अभी ऐसे है, जहॉ विकास और समृद्धि की यह बुनियादी जरूरत अभी नही पहुँची है । मै समझता हूँ कि समय आ गया है । जब हम सौर और वायु ऊर्जा व्यवस्था मे बडी मात्रा मे पूँजी लगाने का साहसपूर्ण फैसला करे । इससे देश के दूर दराज और दुर्गम गॉवो को बिजली मिल सकेगी और कम से कम समय के भीतर हमारे ग्रामीण, विकास के लिए पर्याप्त बिजली प्राप्त कर सकेगे ।

हम जिस तरह की स्वावलम्बी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की स्थापना पर विचार

कर रहे है, उसके लिए उपर्युक्त निविष्टियो का पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होना बहुत जरूरी है । जैसा कि पहले कहा गया है, इसका उद्देश्य यह है कि ग्रामीण क्षेत्रा म उन वस्तुओ को तैयार करने की व्यवस्था की जाए जिनकी वहा माग है । इससे वहा रोजगार के अवसर पैदा होगे और माग मे वृद्धि होगी । इससे ग्रामीण क्षेत्रो मे लोगो की क्रय शक्ति बढेगी और ग्रामीण क्षेत्रो मे रहने वाली विशाल जनता के लिए मडी का विकास होगा । जब माग और सप्लाई की प्रक्रिया साथ-साथ चलेगी और ग्रामीण क्षेत्रो मे विकसित होगी तभी समग्र जनता का विकेन्द्रीकृत और सतुलित विकास सम्भव होगा । तभी ग्रामीण स्तर पर राजनीतिक विकेन्द्रीकरण यथार्थ रूप लेगा । इससे हमारे ग्रामीण जीवन की गुणवत्ता मे क्रातिकारी परिवर्तन होगा । तथापि, इसी के साथ हमे अपने शहरो की भीडभाड कम करनी होगी । केवल इसी तरह के दूरगामी परिर्वतन न हमारे राष्ट्र का सतुलित विकास सुनिश्चित करेगे और अत्यधिक विकृत और शोषणवादी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का विकास करेगे, जो आज न केवल हमारे आर्थिक बल्किसामाजिक और राजनीतिकजीवन को खतरे मे डाल रहे है । इससे एक तरह से हमारे देश की एकता और अखण्डता को खतरा उत्पन्न हो रहा है ।

इस तरह की विकेन्द्रीकृत और सतुलित अर्थ व्यवस्था कायम करने के लिए यह जरूरी है कि बुनियादी सुविधाओ की निविष्टियो की लागत और दाम इस तरह निर्धारित किए जॉए कि ग्रामीण क्षेत्रो का औसत आदमी उन्हें स्वय खरीद सके या उसे बिना स्फीतिकारी दबाव किए इन्हे खरीदने के लिए ऋण सुविधा मिले । अन्तिम विश्लेषण मे मुद्रास्फीति का अर्थ है उपलब्ध वस्तुओ की तुलना मे अधिक धन की आपत्ति और धन की प्रचुरता विशेष रूप से अगर वह थोडे से हाथों मे हो, बहुत खतरनाक लक्षण है । यह सुनिश्चित करना होगा कि ग्रामीण अर्थ व्यवस्था मे माल और सेवाओ के उत्पादको को पर्याप्त पारिश्रमिक और लाभ दिया जाए । तभी उनकी क्रय शक्ति मे वृद्धि होगी और वह ग्रामीण बाजार के लाभप्रद सदस्य बन सकेगे । केवल इस तरह की स्थिति मे उदार अर्थ-व्यवस्था के ढाचे के भीतर माग और आपूर्ति का नियम मुख्य रूप से कार्य करेगा ।

उन गतिशील परिवर्तनो को जो निचले स्तर पर लोकतात्रिक व्यवस्था की शुरूआत के साथ, ग्रामीण और शहरी इलाको मे करने का प्रस्ताव है, हमे एकदम नई आर्थिक-नीति के बारे मे सोचना होगा जो गॉवो के स्तर पर लोकतात्रिक सस्थाओ को आवश्यक वित्तीय साधन उपलब्ध कराये । क्योकि जनता के हाथो मे प्रतिनिधिक सत्ता निहित होने पर और जनता की आकाक्षाओ मे वृद्धि होने के साथ अगर उन आकाक्षाओ को पूरा करने के लिए आर्थिक साधन प्रदान नही किए गए तो जनता मे निराशा की भावना फैलेगी जो कालान्तर मे अत्यधिक विस्फोटक रूप धारण कर सकती है ।

मै इस ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि देश के बहुत बडे भाग मे जहा कृषि विकास मे ठहराव आ गया है अथवा जहॉ कृषि विकास की गति बहुत ही कम है वहॉ क्षेत्र मे ऊँची दर और अधिक स्थिर दर प्राप्त करने की काफी गुजाइश है । इससे रोजगार के अवसरो मे काफी वृद्धि होगी । इन क्षेत्रो मे कृषि उत्पादन बढाने की रणनीति का ग्रामीण क्षेत्रो मे गरीबी और बेरोजगारी समाप्त करने की समस्या पर अनुकूल प्रभाव पडेगा । इन क्षेत्रो मे, जहॉ तुलनात्मक रूप से कृषि का अच्छा विकास हुआ है, अगर अधिक मूल्य वाली गैर खाद्य फसलो जैसे कि सब्जियो, फलो और फूलो का उत्पादन शुरू किया जाय और कृषि पर आधारित उद्योगो का विकास किया जाय तो रोजगार के अवसरो मे काफी वृद्धि हो सकती है ।

देश के कुछ भागो मे ग्रामीण अर्थ व्यवस्था नया रूप ले रही है । कृषि के अलावा अन्य गतिविधिया शुरू की जा रही है । इस प्रवृत्ति को उचित नीतियॉ बना कर बढावा देने की जरूरत है । कृषि से जुड़ी गतिविधियों को भी बढ़ावा दिया जाना चाहिए । स्थानीय कुशलता का इस्तेमाल करने वाले और स्थानीय बाजार की मॉग पूरी करने वाले उद्यमो पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए और उन्हे बढावा दिया जाना चाहिए । इस बात की ओर विशेष ध्यान देना पड़ेगा कि इन गतिविधियों मे से अधिकाश मे बेहतर प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल किया जाए यद्यपि पिछली और घिसी पिटी प्रौद्योगिकी के कारण तैयार वस्तुओ

के लिए बाजार भी अभी उपलब्ध है । बुनियादी सुविधाओ जैसे कि ग्रामीण सडकों और स्कूलो के निर्माण और ग्रामीण क्षेत्रो मे एक विशाल आवास कार्यक्रम शुरू करने को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए । इस तरह की योजनाओ मे कुशल और अकुशल श्रमिको, विशेष रूप से गैर फसली दिनो मे दैनिक मजदूरी पर रोजगार मिलता है ।

अस्सी के दशक मे, विशेष रूप से औद्योगिक मोर्चे पर प्रमुख परिवर्तन हुए है भारत सरकार ने अनेक मामलो मे पहल की है । इसके परिणामस्वरूप अनावश्यक नियंत्रणो को समाप्त कर दिया गया है । और उद्योगो की स्थापना और अबाध एव मुक्त विकास के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हुआ है । इससे उत्पादन मे वृद्धि लागत मे कमी और गुणवत्ता मे सुधार हुआ है । पिछले तीन वर्षो के दौरान आर्थिक सुधार के कार्यक्रमो ने गति पकड ली है । नियत्रण समाप्त करने , सार्वजनिक प्रतिष्ठानो के शेयर जनता को बेचने और नौकरशाही की जकड को ढीला करके खुली विदेशी पूँजी निवेश को आकृष्ट करने वाली, निर्यातोन्मुख और विश्व अर्थ व्यवस्था के साथ मेल रखने वाली अर्थ व्यवस्था ने परिणाम दिखाने शुरू कर दिए है । विदेशी सरकारो , अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सस्थाओं, विश्व भर में व्यापार और निवेश प्रतिष्ठानो और विद्वानो ने भारत के आर्थिक सुधारो का स्वागत किया है । विभिन्न राजनीतिक दलों, व्यापारिक और सम्बन्धित हितो के बीच आम सहमति होने के बाद इन सुधारो के रोके जाने की कोई सम्भावना नही है ।

उपर्युक्त घटनाए हमारे ग्रामीण क्षेत्र के लिए आशा की उज्जवल किरणो का पूर्वाभास है । भारत तभी महाशक्ति बनेगा जब उसकी ग्रामीण जनता आर्थिक समृद्धि और आत्मनिर्भरता प्राप्त करेगी । वह वक्त आ गया है जब हम ग्रामो मे रहने वाले अपने भाइयो की ओर ध्यान दे और उनकी समृद्धि के लिए कार्य करे ।

गॉधी जी की आर्थिक विचारधारा पर वेदान्त का प्रभाव

गॉधी जी के समस्त विचारो पर कही न कही वेदान्त-दर्शन का प्रभाव उनके इस कथन से परिलक्षित होता है -

"मै यह मानता हूँ कि मानव जीवन और मानव-समाज को हम राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक जीवन के टुकडो में नही बॉट सकते । सभी एक दूसरे को प्रभावित करते है । "[1]

नीति, समाज , धर्म तथा अर्थ सम्बन्धी सभी विचार ईश्वर जगत तथा मानव सम्बन्धी उनके दार्शनिक विचारो से ही प्रभावित है और कही न कही और उनके ये दार्शनिक विचार वेदान्त दर्शन से ही गृहीत है ।

गॉधी जी के अनुसार नैतिकता हमारे समस्त जीवन का आधार है । व्यक्ति एव समाज का अस्तित्व एव उसकी प्रगति नैतिकता पर आधारित है । यही हमारे अन्दर सघर्ष और सहार की भावनाओ और प्रवृत्तियो को दबाकर परोपकार शान्ति सुख और सामन्जस्य को प्रोत्साहित करती है । ये सब गॉधी जी के विचार स्पष्ट रूप से वेदान्त से प्रभावित लगते है । वेदान्त दर्शन मे मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रतिपादित वर्ग मे साधक के लिए कुछ अनिवार्य योग्यताओ से युक्त होना आवश्यक माना गया है तथा ज्ञान मार्ग मे श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन तीन सोपान माने गये हैं और श्रवण का अधिकारी बनने के लिए साधक मे चार योग्यताए आवश्यक मानी गयी है ये है -

(1) **नित्यानित्य वस्तु विवेक** - अर्थात नित्य क्या है अनित्य क्या है इसका ज्ञान साधक को होना चाहिए । जो एक रूप से सदैव व्यवस्थित हो वही गॉधी दर्शन मे सत्य है ।

(2) **इहमुत्रार्थ भोग विराग -** अर्थात इस लोक मे तथा परलोक मे साधक को भोग

---

1 यग इण्डिया 22 मार्च 1922

की कामना से युक्त होना चाहिए । "आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियम भवति" अत आत्म प्रिय के लिए अन्य प्रेम को छोड देना चाहिये । यह गाँधी जी का "आत्म नियत्रण" का सिद्धान्त है ।

(3) **श्रम, दम, उपरति तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा** – इन छ गुणो से साधक को युक्त होना चाहिए । यहाँ शम का अर्थ मानसिक नियन्त्रण, दम का अर्थ इन्द्रिय निग्रह, उपरति का अर्थ विषय वासना से दूर रहना तथा तितिक्षा का अर्थ सहिष्णुता है एव समाधान का अर्थ शकाओ का समन्वय निकालना है और श्रद्धा का अर्थ स्वाभाविक विश्वास है ।

इसके अतिरिक्त चौथा साधन मुमुक्षा अर्थात मोक्ष पाने की उत्कट इच्छा है ।

यदि हम ध्यान पूर्वक देखे तो वेदान्त के इन विचारो का गाधी के दर्शन मे बहुत गहरा प्रभाव दिखाई पडता है । गाधी के दर्शन की "अन्तश्चेतना" वेदान्त के इन विचारो का ही प्रतिरूप है ।

गाधी जी ने अपनी आदर्श व्यवस्था मे इन तथ्यो को ग्रहण किया है । वेदान्त मे प्रतिपादित इन्द्रिय निग्रह, मानसिक नियत्रण , तितिक्षा, अर्थात भूख प्यास आदि सहने की क्षमता का स्पष्ट प्रभाव गाधी के सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि सिद्धान्तो मे देखा जा सकता है ।

गांधी जी अपने श्रम सम्बन्धी विचारो में मानवतावाद , व्यक्तिवाद आदि को महत्व देते हुए वे व्यक्तिगत चेतना को विशेष महत्व देते है तथा प्रत्येक व्यक्ति के महत्व को पहचाना । चाहे वह गरीब हो या अमीर । इस प्रकार उनका यह विचार पूर्ण रूप से वेदान्त से प्रभावित लगता है ।

यदि हम गाधी जी के महत्वपूर्ण आर्थिक विचार ट्रस्टीशिप को देखें तो गाँधी

जी ने कहा है कि मानव के हृदय मे प्रेम व विवेक की भावना को जगाकर मालिको को यह समझाना कि उनके पास जो कुछ भी पूँजी है उसे वह श्रमिको के कमाई का फल समझे । इसमे स्पष्ट रूप से वेदान्त के मानवतावादी विचारो का पुट देखने को मिलता है । गाधी जी का यह कथन कि सामाजिक विषमता तब तक दूर नही हा सकती जबतक कि समाज का प्रत्येक अग चाहे वह धनी हो या गरीब अपने कर्तव्य और अपने दोषो के प्रति नैतिक रूप से सचेत और जागृत न हो जाए । यह भावना प्रेम के माध्यम से और विवेक को जागृत कर लाई जा सकती है । स्वार्थ और लोभ, ईर्ष्या और द्वेष आदि को नैतिक रूप से दूर किया जा सकता है । यह विचार स्पष्ट रूप से वेदान्त से प्रभावित होते हुए दिखते है ।

गाधी जी का कथन है कि मानव शरीर का एक मात्र उद्देश्य सेवा है, मोक्ष कदापि नही । सुखी जीवन का रहस्य त्याग मे है । त्याग ही जीवन है मोक्ष का अर्थ तो मृत्यु है । " इससे किसी को यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि गाधी जी बैरागियो का जीवन यापन करने के लिए कहते है । उनका विचार है कि समस्त समाज का अधिकतम कल्याण हो तथा दूसरा यह कि हम अपने जीवन के उद्देश्य नैतिकता एव त्याग को न भूल जॉय ।

साध्य एव साधन की पवित्रता पर बल देते हुए गाधी जी कहते है कि साधन और साधक एक दूसरे के पूरक है । हम जैसा बोयेगे वैसा ही काटेगे । साधन न केवल साधन मात्र होते है, बल्कि उनसे उद्देश्य की प्राप्ति भी स्पष्ट रूप से होती है । यदि साधन बीज है तो साध्य उनसे उत्पन्न होने वाले पेड़ । जिस प्रकार पेड़ एव बीज को एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता है । महात्मा गाधी अपनी गतिविधियो के आर्थिक क्षेत्र मे भी कार्य तथा कारण का सम्बन्ध स्थापित करते है । वे श्रमिक वर्ग एव पूँजीपति को समान स्तर पर रखते है ।

इस प्रकार यदि गाँधी जी के इन समस्त विचारो का पूर्ण रूप से अवलोकन किया जाय तो यह परिलक्षित होता है कि गाधी के ये विचार वेदान्त के काफी नजदीक है तथा किसी न किसी रूप मे इनका प्रभाव गाँधी जी के ऊपर अवश्य दिखई पडता है ।

सप्तम-अध्याय

महात्मा गाँधी के सामाजिक विचार तथा उस पर वेदान्त का प्रभाव

महात्मा गाँधी के सामाजिक-विचार

ऋग्वेदकाल से ही एक ब्रह्माण्ड की कल्पना चली आ रही है । समाज भी मानो विभिन्न प्रकार के अवयवो से बना हुआ है एक शरीर है । **पुरूष-सूक्त** मे ईश्वर के सहस्र शीर्ष, मुख, बाहु, पाद आदि का बडा ही भव्य और प्रतीकात्मक वर्णन है, मानो वे समाज के ही विभिन्न अग हो । हिन्दू-समाज के चातुर्वर्ण्य का भी आधार युजुर्वेद मे वर्णित ईश्वर के विभिन्न अवयवो का कार्य-व्यापार ही है । वस्तुत वैदिक-युग मे चातुर्वर्ण्य की कल्पना तो मूलत मनुष्य के गुण और कर्म पर ही आधारित है । जन्मना जाति आदि तो वर्ण-व्यवस्था का विकृत रूप है जो धीरे-धीरे भारत मे विकसित होता गया । किन्तु, जहाँ तक चार वर्णो के रूप मे समाज का प्राकृतिक एव वैज्ञानिक विभाजन है, वह तो किसी न किसी रूप मे विश्व मे सब जगह पाया जाता है ।

वर्ण-व्यवस्था :

गाँधीजी ने भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था को माना था किन्तु आधुनिक जाति-प्रथा की तीव्र आलोचना करते हुये इसका आवश्यक सुधार करने का भी प्रयत्न किया । शरीर की तरह समाज को भी ठीक से चलाने के लिये श्रम-विभाजन और इसके विभिन्न अवयवो मे पारस्परिक सहयोग चाहिये । समाज को ढीक से चलाने के लिये सभी प्रकार के कार्यो - शिक्षा, रक्षा, कृषि, वाणिज्य एव सेवा की आवश्यकता है । ये सभी समान रूप से कर्तव्य समझकर करना चाहिये । इसलिये इसमे ऊँच-नीच का भेद करना ही गलत है । चूँकि ये सभी प्रकार के कार्य समाज के लिये समान रूप से उपयोगी है इसलिये सबके लिये समान पारिश्रमिक मिलना चाहिये । कोई अपने को बडा और दूसरे को छोटा नही समझे । किसी जाति-विशेष को कोई विशेष अधिकार या सुविधा देने की बात इसलिये भी गलत है कि अपनी दृष्टि से सभी कार्यो के लिये समाज मे प्रतिष्ठा है । गाँधीजी यह मानते है कि इस दूषित जाति-प्रथा के मूल मे सचमुच वर्ण--व्यवस्था ही है । 'वे कहते भी है - "मै यह मानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुछ विशेष नैसर्गिक प्रतिभाओ को

लेकर जन्म लेता है । उसी तरह सबों की अपनी सीमाएँ होती है, जिन्हे वह हटा भी नही सकता । इन्ही सब बातो के आधार पर वर्ण–व्यवस्था का निर्माण हुआ था । व्यक्तिया के गुण और कर्म के अनुसार समाज का विभाजन हुआ । इससे अस्वस्थ प्रतियागिता भी स्वत समाप्त हो जाती है। वर्ण–व्यवस्था मे कार्य–विभाजन की दृष्टि से समाज का विभाजन है । किन्तु, उसमे ऊँच–नीच का कोई स्वाल नही है । "प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य पालन करते हुये उच्चतम स्थान प्राप्त कर सकता है । इसलिये दूसरे से ईर्ष्या का अवसर ही समाप्त हो जाता है । किन्तु इस महान् आदर्श की आज सचमुच दुर्गति एव दुरावस्था हो गयी है । किन्तु, मेरा यह दृढ विश्वास है कि कोई समाज–व्यवस्था इन्ही आदर्शो और सिद्धान्तो के आधार पर खडी की जा सकती है।"[1]

हिन्दू समाज की वर्ण–व्यवस्था का भी यही आधार है । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इसमे प्रत्येक वर्ण का कर्म निर्धारित है । उनके अधिकारो की सूची नही। सभी का उद्देश्य ईश्वर की सृष्टि को ही परिपूर्ण करना है। वेद मे कहा गया है –

"ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्य कृत ।
उरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शद्रोऽजायत ।"[2]

"ब्राह्मणो को शिक्षा, क्षत्रिय के हाथ मे रक्षा, वैश्यो के हाथ मे जीविका और शूद्रो क लिये सेवा का विधान बनाया गया। यह विशुद्ध वैज्ञानिक श्रम--विभाजन है।"[3]

लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि जो शिक्षा के काम मे लगे है उन्हे आत्मरक्षा की उपेक्षा या शरीर श्रम आदि से घृणा करनी चाहिये । इसका अर्थ केवल इतना ही हे कि प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य पेशा वही हो, जिसमे उसकी अत्यधिक अभिरुचि है । निष्ठापूर्ण सेवा एव व्यक्ति के गुण, कर्म और प्रवृत्ति के अनुसार ही समाज का सगठन होने से

1. मार्डन रिव्यू – अक्टूबर 1936, पृष्ठ – 413
2 यजुर्वेद 31, 11
3 यग--इण्डिया – 6 10 1921

से यह अधिक सयमित तथा शक्तिशाली होगा । गॉंधीजी ने लिखा है "प्रचलित जाति–प्रथा वर्णाश्रम के बिल्कुल विपरीत है, अत इसको जनता जितनी जल्दी समाप्त कर दे, उतना ही अधिक ठीक है । जाति का धर्म से कोई सम्बन्ध नही । फिर यह राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता दोनो ही के विकास मे बाधक है।"[1]

कायिक–श्रम ·

गॉंधीजी वर्णाश्रम के प्राचीन भारतीय आदर्श को मानते थे । किन्तु आलसी बुद्धीजीवियो, मध्यवर्गीय और आराम पसन्द अमीरो के जीवन को देखकर वे यह खूब अनुभव करते थे कि यदि शरीर–श्रम समाज के किसी वर्ग–विशेष के ऊपर ही थोप दिया जायेगा तो फिर उत्पादक श्रम के प्रति समाज मे एक प्रकार का विकर्षण और घृणा का भाव पैदा हो जायेगा। बिना हाथ–पैर के हिलाये मनुष्य का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रह सकता । इसीलिये केवल बौद्धिक काम करते रहने तथा कृत्रिम व्यायामादि एव दवा आदि खाकर शरीर को निरोग रखने की अपेक्षा यह अधिक वैज्ञानिक होगा कि हम अपने और अपने परिवार के लिये नियमित रूप से थोडा–थोडा शरीर--श्रम किया करे । यह श्रम, वास्तव मे देखा जाये तो खेती ही है । पर, आज की जो स्थिति है, उसमे सब उसे नहीं कर सकते । इसलिये खेती का आदर्श ध्यान मे रखते हुये लोग उसके दूसरे विकल्प की – जैसे कताई–बुलाई, बढईगीरी, लुहारी इत्यादि भी कर सकते है । फिर सबको स्वय अपना भंगी भी होना चाहिये। मोटा काम किसी वर्ग–विशेष का अलग धधा नही माना जाना चाहिये । यदि सब कोई इस प्रकार के कामो मे थोडा–थोडा हाथ बटावे तो शरीर भी स्वस्थ रहेगा और समाज में श्रम की प्रतिष्ठा और मानव की समानता भी बनी रहेगी ।

आर्थिक–समता :

जिस प्रकार गॉंधीजी ने समझा था कि सभी प्रकार के काम समाज के लिये समान

---

1 हरिजन -- 16.6 1935

रूप से पवित्र है उसी प्रकार उन्होंने सभी के लिये समान वेतन को भी स्वीकार किया था । वे श्रम-विभाजन के महत्व को समझते थे किन्तु फिर भी समवेतन पर उनका विशेष आग्रह था । उनके अनुसार एक वकील, एक डाक्टर या शिक्षक की आमदनी एक भगी से अधिक नही होनी चाहिये । तभी समाज मे श्रम की प्रतिष्ठा कायम रहेगी । इसके अलावा सुख और शान्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं ।"[1]

वे मानते थे कि यह आदर्श काफी ऊँचा है । किन्तु, प्रत्येक राष्ट्र इस आदर्श को सामने रखकर निरतर इसकी प्राप्ति के लिये प्रयास करे, तभी समाज मे आर्थिक सतुलन शान्ति और सुख मिलेगा । यदि समवेतन का सिद्धान्त लागू हो जायेगा तो फिर प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशेष अभिरुचि के अनुसार अपने लिये जीविका-निर्वाह का कार्य चुनेगा और उसी को अपनी पूरी निष्ठा से करेगा ।

यद्यपि पूर्ण समता गाँधीजी का आदर्श था, फिर भी वे यह मानते थे कि मानव की अन्तर्निहित दुर्बलताओ के कारण पूर्ण समता असम्भव है । हम देखते है कि यदि लोगो को समान अवसर भी मिलता है और समान काम के लिये उन्हे समान मजदूरी भी दी जाती है फिर भी कोई अधिक उपार्जन कर लेता है कोई कम । अत कानून के माध्यम से कृत्रिम रूप से समानता लाने से व्यक्तिगत पुरूषार्थ और नैतिक विकास के लिये अवसर ही नही रहेगा । इसके लिये तो हमे फिर अहिसा और प्रेम के सिद्धान्त का सहारा लेकर जीवन मे अपरिग्रह एव अस्तेय-व्रत की साधना करनी पडेगी । अहिंसक समाज-व्यवस्था मे ही शोषण का सम्पूर्ण अत हो सकेगा । अस्तेय व्रत के पालन से हममे यह भावना दृढ होगी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति पर अधिकार है । दूसरे की सम्पत्ति लेना उसका अधिकार छीनना है । इसलिये जिस सम्पत्ति का हम अपने परिश्रम से अर्जन नही करते, उस पर लोभ करने की हमारी वृत्ति का स्वत सवरण हो जायेगा । दूसरी ओर, अपरिग्रह व्रत की साधना से हम यह सीख सकेंगे कि हमे कोई आवश्यक वस्तु नही रखनी

---

1 हरिजन - 23 3 47

चाहिये । यदि आवश्यकता से अधिक हमारे पास कुछ है तो हम उसे दूसरो की भलाई के लिये खर्च कर दे । यद्यपि ये सब कठिन आदर्श है फिर भी इनके पालन के बिना सच्ची समता के लिये न तो हमारा मानस तैयार हो सकेगा और न समाज मे इसके लिये उपर्युक्त वातावरण ही बन सकेगा । गाँधीजी इसीलिये सबका साराश एक ही वाक्य मे रख देते है --"यदि हमे अपने पडोसियो के लिये प्रेम और सहानुभूति नहीं है तो कोई भी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना व्यर्थ होगा ।" अस्तेय एव अपरिग्रह-व्रत के पालन से ही ससार मे दरिद्रता और आर्थिक-असमानता दूर हो सकती है ।

शिक्षा :

गाँधीजी देश के सामान्य एव राजनीतिक अभ्युत्थान के लिये शिक्षा का नवसस्कार अनिवार्य मानते थे । इसीलिये उन्होने अपने कार्यकर्ताओ के साथ देश के कई भागो मे शिक्षा के क्षेत्र मे अनेक प्रयोग किये । इसे हम 'बुनियादी शिक्षा' के नाम से जानते है । आज इसका बिहार तथा अन्य राज्यो मे व्यापक रूप से प्रचार है । गाँधीजी ने अपने आश्रम मे शिक्षक का भी काम किया और आश्रम के बच्चो को पढने-लिखने के अलावा सूत कातने तथा चर्मोद्योग आदि का भी शिक्षण दिया । किन्तु उनके विचार मूल रूप से व्यवहारिक अनुभवो पर आधारित थे । उनके अनुसार शिक्षा का सही उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी गुणो की अभिव्यक्ति है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुछ योग्यताओ और क्षमताओ को लेकर जन्म लेता है । समुचित शिक्षा के द्वारा उसका सुन्दर से सुन्दर विकास हो सकता है । व्यक्ति का सर्वांगीण विकास तभी संभव है जब शिक्षा मे ज्ञान के साथ कर्म और विचार के साथ आचार का समन्वय हो । शिक्षा की सबसे बुनियादी जवाबदेही माँ-बाप पर रहती है जो सूक्ष्म रूप से किन्तु अत्यन्त गभीर रूप से बालक के विचार, भावना और आचरण को प्रभावित करते हैं । माँ--बाप का प्रभाव तो वस्तुत बालक पर उसी समय से पड़ने लगता है जिस समय से वह माँ के पेट मे रहता है । किन्तु, जब तक माँ-बाप स्वय अपना आदर्श ऊँचा नही रखेगे तब तक बच्चे पर उसका प्रभाव नही पड सकता ।

विद्यार्थी जीवन मे ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने के प्राचीन भारतीय आदर्श के गाँधीजी बहुत बडे कायल थे । इससे पच्चीस वर्षों तक आत्मसयम की शिक्षा मिलती है । ब्रह्मचर्य और आत्म-सयम स्वाध्याय के लिये तो आवश्यक है ही, साथ-साथ यह नोजवानो के भी गार्हस्थ्य जीवन के योग्य बनाता है ।

बालक को प्रारिम्भक शिक्षा सबसे सुन्दर रूप से ही दी जा सकती है । मौखिक रूप से जो शिक्षा दी जाती है वह पुस्तकीय ज्ञान से दस गुणा अधिक लाभप्रद होती है और इसमे समय भी बहुत कम लगता है ।

डिवी की तरह गाँधीजी भी "कार्य के द्वारा शिक्षण पर बहुत अधिक जोर देते है । वे लिखते है --

"मस्तिष्क की सच्ची शिक्षा के लिये भी शारीरिक अवयवो का समुचित उपयोग आवश्यक है । शारीरिक-शक्ति एव कर्मेन्द्रियो के बुद्धिपूर्वक उपयोग से सुन्दर-से-सुन्दर और शीघ्र से शीघ्र मानसिक विकास सम्भव हो सकता है ।" [1]

बुनियादी शिक्षा का आधार यही है । इस पद्धति के अनुसार किसी प्रकार के हस्तकौशल या कारीगरी के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती है । इसमे सभी साहित्यिक एव वैज्ञानिक शिक्षा किसी न किसी कारीगरी पर केन्द्रित रहता है । इसे शिक्षण की दृष्टि से 'समवाय-पद्धति' कह सकते है ।

किसी हस्तकर्म के साथ शिक्षण को जोड देने से विद्यार्थी शरीर से समर्थ, बुद्धि से सजग और आत्म-विश्वास से परिपूर्ण होता है । फिर, हस्तकर्म से विद्यार्थी कुछ धन का भी उपार्जन करता है, जिससे शिक्षा-शुल्क में भी आशिक स्वावलम्बन हो पाता है। इसमे शिक्षा के ऊपर होने वाले खर्च का बोझ सरकार पर थोडा कम होगा, जिससे शिक्षा

---

1 हरिजन - 8 5 1937

का अधिक से अधिक विस्तार भी सम्भव हो सकेगा । अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर गाँधीजी ने लिखा है – "मै यह मानता हूँ कि शिक्षा की इस पद्धति से व्यक्ति का सबसे अधिक मानसिक एव आध्यात्मिक विकास हो सकता है । उद्योग भी आज की तरह यात्रिक ढग से नही बल्कि वैज्ञानिक ढंग से सिखाये जायेगे ताकि बालक प्रत्येक प्रक्रिया के मूल की जानकारी प्राप्त कर सके ।"[1] गाँधीजी ने शिक्षा की इस पद्धति की खोज विशेषकर गाँवो को दृष्टि मे रखकर की थी । वे चाहते थे कि गाँव–समाज के लडके कोई न कोई जीविकोपयोगी उद्योग अधिक कुशलतापूर्वक सीख जाये । इस प्रकार गाँवो का पुनरूद्वार हो सकेगा और गाँवो से शहरो की ओर प्रवासन की प्रवृत्ति भी रूक जायेगी । इसलिये वे फिर हरिजन मे लिखते है – "बालको को किसी न किसी जीविका के लिये अवश्य ही प्रशिक्षित करना चाहिये । उसी को ध्यान में रखकर उसके शरीर, मस्तिष्क, हृदय आदि की शक्तियो का भी विकास करना चाहिये । इस प्रकार वह अपने व्यवसाय मे दक्षता प्राप्त कर लेगा ।"[2]

गाँधीजी ने इस शिक्षा के माध्यम से ही एक शातिपूर्ण सामाजिक क्रान्ति की योजना बनायी । इसका हमारे जीवन पर गम्भीर प्रभाव पडा । वैज्ञानिक और प्रभावकारी ढग से कुटीर–उद्योगो की स्थापना से उद्योगवाद की भी बुराइयाँ मिट जायेगी । "फिर न तो मालिको और मजदूरो के बीच भयानक वर्ग–संघर्ष होगा और न सम्पूर्ण भारतवर्ष मे स्थापित करने के लिये वृहत् उद्योगों मे लगने वाली विशालकाय पूजी की ही जरूरत होगी । विदेशो मे मिलने वाली मशीनो और कुशल कारीगरो के लिये उन पर मुहताज नही रहना पडेगा ।"[3]

बुनियादी शिक्षा–पद्धति अभी भी भारत मे प्रयोगावस्था मे है । कृषि और कुछ बुनियादी गृह–उद्योगो के आधार पर गाँवो को स्वावलम्बी बनाने का गाँधीजी का स्वप्न अभी

---

1 हरिजन -- 31 7 1937

2 हरिजन – 18.9 1937

3 हरिजन (9 10 1937)

भी अधूरा है । यह ठीक है कि सरकारो के पास अभी भी बहुत उद्योगो के साथ-साथ प्रभावकारी लघु उद्योगो का सुन्दर ढग से समन्वय करने की योजना है । किन्तु, लगता है कि गत विश्वयुद्ध के बाद औद्योगीकरण हर देश को प्रभावित कर रहा है । गाँधीजी की योजना को लागू करने के लिये न तो अभी अवसर है और न तब तक मिलने वाला है जब तक औद्योगीकरण हमारे सामने कोई भीषण सकट न उपस्थित कर दे ।

गाँधीजी बालको मे रस और सौन्दर्य-बोध के विकास तथा कला, सगीत और शारीरिक कवायद के प्रशिक्षण पर जोर देते थे । उनका तो कहना था कि "सच्ची कला आत्माभिव्यक्ति है । सगीत सचमुच सुर और ताल पर निर्भर है । इसका प्रभाव सचमुच बिजली जैसा होता है और यह तुरन्त शान्ति प्रदान करता है । कवायद मे भी एक प्रकार के सुर और ताल की ही व्यवस्था रहती है । इस कारण हमे कोई थकान नही होती और हम आनन्दपूर्वक कवायद करते जाते है । बच्चो के समग्र विकास के लिये इन सब बातो की ओर हमे ध्यान देना चाहिये ।"[1]

गाँधीजी उस तथाकथित उच्च शिक्षा के हिमायती नही थे जिसमे केवल बौद्धिक शिक्षण दिया जाता हो और जिसे व्यक्ति तथा समा की सच्ची आकाक्षाओ से कोई सम्बन्ध नही रहे । इसलिये उन्होंने लिखा – "मै उच्च शिक्षा मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाकर उसे राष्ट्रीय आकाक्षाओ और आवश्यकताओ के साथ जोड दूँगा ।"[2] किन्तु उन्होने साथ-साथ यह भी कहा – "मै उच्च शिक्षा दुश्मन नही हूँ । मेरी योजना मे तो अधिक से अधिक और सुन्दर से सुन्दर पुस्तकालय, प्रयोगशालाए और शोध-सस्थान होगे । उनसे जो ज्ञान मिलेगा वह जनता की सम्पत्ति होगी और जनता को उसका लाभ मिलेगा ।"[3] **कार्लटन वाशवर्न नामक लेखक ने रीमेकर्स ऑफ मैन काइंड (पृष्ठ 104–105)** पर गाँधीजी की शिक्षा-विषयक एक चर्चा को उद्धृत किया है जिसमे गाँधीजी ने कहा है – "शारीरिक

---

1. हरिजन – 31.12 1938
2 हरिजन – 31.7 1937
3 हरिजन – 9.7 1938

शक्तियो के विकास के साथ-साथ चरित्र-निर्माण, साहस, सद्गुण और महान् आदर्शों के लिये अपने को मिटा देने की तैयारी ही शिक्षा का उद्देश्य था । साक्षरता और पुस्तकीय ज्ञान तो शिक्षा के इस महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक साधन मात्र था ।"[1] किन्तु, केवल पुस्तकीय ज्ञान से तो चरित्र-निर्माण सभव नही है । नैतिक शिक्षण तो माँ-बाप तथा शिक्षको के सदाचरण से ही मिलता है । इसलिये इन लोगो के लिये अपने दैहिक के जीवन मे प्रत्येक क्षण अपने आचरण सम्बन्धी छोटी से छोटी बातो की ओर ध्यान देना जरूरी है ।

गाँधीजी इस पक्ष मे कभी नही थे कि राजकीय विद्यालयो मे किसी सम्प्रदाय और धर्म-विशेष का शिक्षण दिया जाये क्योकि इसमे कई प्रकार की कठिनाइयाँ उठेगी । किन्तु जैसा उन्होने लिखा – "इसका यह कतई अर्थ नही होता है कि उन स्कूलो मे नैतिक शिक्षण भी नही दिया जाये । आधारभूत नैतिकता की बाते तो सभी धर्मों मे समान रूप से विद्यमान है ।"[2]

असल मे गाँधीजी राष्ट्रीय शिक्षा का विकास करना चाहते थे जिससे राष्ट्रीय सस्कृति के अन्दर जो सुन्दर से सुन्दर तत्व है, उनके प्रति राष्ट्रीय सम्भावनाओ के प्रति बच्चो मे प्रेम और विश्वास पैदा हो सके । इसके बिना कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र उठ नही सकता, किन्तु इसके साथ ही, शिक्षा का उद्देश्य भी यह होना चाहिये कि व्यक्ति और राष्ट्र अपनी सम्भावनाओ और शक्तियो का इस प्रकार विकास करे कि सम्पूर्ण मानव की एकता एव अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव पैदा हो सके । उन्होने स्पष्ट लिखा है कि "कोई भी सस्कृति बिल्कुल पृथक रहकर जी नहीं सकती । इसलिये मै चाहता हूँ कि हमारे सभी ओर के दरवाजे और खिडकियाँ खुली रहे ताकि सभी जगहो की सस्कृतियो की सुगध हमारे घर मे भी निर्बाध रूप से आ सके । किन्तु यह भी सही है कि मै अपना आधार

---

1 दी मेकर्स आफ नैनकाइड – पृष्ठ 104–105 लेखक – कलिटन वाशवर्न
2. हरिजन – 16 3 1947

भी नही छोडना चाहता ।"[1] जिस व्यक्ति और राष्ट्र का अपना कोई सास्कृतिक आधार नही है, वह न तो दूसरे का अच्छी तरह से स्वय लाभ ले सकता है और न दूसरे को लाभ पहुँचा सकता है ।

सभी समकालीन भारतीय चितको की तरह गाँधीजी भी सस्कृति सगम मे विश्वास करते थे । उन्हे सचमुच भारत की सस्कृति पर गर्व था । इसलिये वे गर्व से कहा करते थे -- "हमारी प्राचीन सस्कृति मे हमारे पूर्वजो ने सुन्दर-से-सुन्दर जातीय-समन्वय किया । आज हमारी वर्तमान पीढी पर उसी का प्रभाव है ।"[2] अपनी ही प्रेरणा से राष्ट्रीय महाविद्यालय के रूप मे शुरू किये गये 'गुजरात-विद्यापीठ' के आदर्शों पर प्रकाश डालते हुये उन्होंने कहा था - "विद्यापीठ केवल प्राचीन सस्कृति का अधानुकरण नही करेगा । इसका उद्देश्य प्राचीन परम्पराओ और नवीन अनुभूतियो का समन्वय कर एक नयी सस्कृति का निर्माण करना होगा । इसलिये यह विभिन्न भारतीय सस्कृतियो का समन्वय करेगा जिन्होने भारतीय जन-जीवन को प्रभावित किया है और स्वय उससे प्रभावित भी हुये है ।"[3]

गाँधीजी के सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति का मूलाधार है कि सत्य और करूणा के माध्यम से व्यक्ति और समाज की सच्ची प्रगति सभव है । प्रत्येक व्यक्ति शरीर, मन और हृदय से सुशिक्षित होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सत्य और करूणा की साधना करे ताकि व्यक्ति, समाज और मानवता अधिकाधिक सुख और आनद की दिशा मे प्रगति कर सके । उन्होंने कभी इस प्रकार का एकागी चितन किया ही नही कि जो सब पुरानी या भारतीय चीजे है, अच्छी है और जो सब नई चीजे है, बेकार है । उन्होने प्राचीन और आर्वाचीन प्राची और प्रतीची - सभी क्षेत्रो मे आग्रह रहित होकर सत्य के सधान के निमित्त अध्ययन, शोध एव प्रयोग की आवश्यकता पर बल दिया । उनके लिये नैतिकता के नियम केवल सिद्धान्त मात्र नहीं थे । इसलिये चाहे समाज-साधन हो या प्रशासनिक कार्य-सचालन

---

1 यग-इण्डिया - 1.7 1921

2. हरिजन - 9.5 1936

3 यग-इण्डिया - 17 6 1920

या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध – हर क्षत्र मे उन्होने नैतिकता क नियमो क पालन और प्रयाग की आवश्यकता बतायी । उनका सम्पूर्ण जीवन इन आदर्शों के प्रयोग मे ही बीता ।

स्त्री और पुरूष :

गीता के अनुसार गाँधीजी यह विश्वास करते थे कि व्यक्ति अपने स्वधर्म का पालन कर परमपद प्राप्त कर सकता है । इसलिये जहाँ भी जिस वृत्ति मे रहे, हमे अपना स्वधर्म निभाना चाहिये । प्रकृति ने परिवार के पालन एव रक्षण के लिये पुरूष को समर्थ बनाया है । स्त्री प्रकृति से ही परिवार की माता के रूप मे बच्चो का लालन–पालन करने तथा गृहस्थी का गुरूतर भार उठाने के योग्य बनी है । अत स्त्री और पुरूष एक दूसरे के पूरक है । दोनो के परस्पर सक्रिय सहयोग के बिना दोनो का अस्तित्व असम्भव है। मानव सृष्टि एव विकास के लिये दोनो का महत्व बिल्कुल बराबर है ।

अत स्त्रियो के हर क्षेत्र मे पुरूषो के अन्धानुकरण एव पुरूषो के प्रत्येक कार्य को करने की आधुनिक लिप्सा का गाँधीजी ने कभी समर्थन नही किया । वास्तव मे आदर्शों के विषय मे हमारी यह बहुत बड़ी भ्राति है, जिसके कारण समाज मे अराजकता का वातावरण फैलना अनिवार्य है । हाँ, उन्होने यह महसूस किया कि पुरूषो के द्वारा स्त्रियो पर अनुचित एव अन्यायपूर्ण प्रभुत्व लादने की दुष्चेष्टा के कारण ही स्त्रियो मे यह हीन भावना तथा पुरूष जाति के प्रति ऐसी दुर्भावना पैदा हुई है । पुरूष को चाहिये कि वह जीवन–सगिनी के रूप मे नारी का सम्मान करे और नारी को भी प्रतिष्ठा और मर्यादा के साथ अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिये । यदि माता अपना कर्तव्य–पालन करना छोड दे तो फिर पुरूष का अस्तित्व ही कहाँ रहेगा ? इसलिये, **गाँधीजी बराबर कहा** करते थे – "बाहरी आक्रमणो से राष्ट्र की प्रतिरक्षा करने मे जितना त्याग और पुरूषार्थ चाहिये, परिवार को सुव्यवस्थित और सुनियोजित रखने में उतना ही आत्म–त्याग एव पुरूषार्थ अपेक्षित है ।"

स्त्री–पुरुष में भेद को बड़ा करके देखना और दोनों की आधारभूत आध्यात्मिक एकता की उपेक्षा करना आज एक फैशन जैसा हो गया है । हम भूल जाते हैं कि दोनों

में एक ही आत्म-तत्व हैं । दोनो एक तरह से खाते-पीते और रहत है । दानो क हृदय मे एक प्रकार की ही भावनाए रहती है । इसलिये गाँधीजी की मान्यता है कि "यदि हम दोनो के लिये अलग-अलग कार्य क्षेत्रो का विभाजन मान ले तो फिर यह भी मानना पडेगा कि उन कार्यों के पालन के लिये दोनो मे प्राय एक ही प्रकार की वृत्ति और निष्ठा आवश्यक होगी । शैक्षिक, नागरिक एव आध्यात्मिक क्षेत्रो मे गाँधीजी स्त्री-पुरूष की समानता के बडे कायल थे । इसीलिये उन्होने स्त्री-जाति के विकास मे बाधक कितनी ही भारतीय रूढियो और परपराओ के उन्मूलन करने मे जीवन का बहुत सारा समय लगाया । उन्होने तो स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लेने के लिये भी स्त्रियो को प्रेरणा दी ताकि वे अपना सम्पूर्ण-जीवन समाज-सेवा मे अर्पित कर सके । भारत को राजनीतिक दासता से मुक्ति दिलाने के अभियान मे उनके साथ अनेक नारियो ने अपूर्व साहस और वीरता का परिचय दिया था । यह सचमुच गाँधीजी द्वारा नारियो के लिये सेवा-कार्य करने का ही फल था । आज स्वतन्त्र-भारत मे स्त्रियाँ मन्त्री, राजदूत, राज्यपाल, सेना आदि ऊँचे-ऊँचे पदो पर भी आसीन है ऐसा प्रगतिशील उदाहरण पाश्चात्य देशो मे भी दुर्लभ है । इससे यही पता चलता है कि गाँधीजी के विचार मे नारियाँ सार्वजनिक जीवन के उच्चतम स्थान पर जाने मे भी समर्थ है ।

गाँधीजी ने स्वीकार किया था कि सामान्य तौर पर स्त्री-पुरूष के लिये आध्यात्मिक दिशा पकड़कर विवाहित जीवन बिताना ही आदर्श है ।उन्होने लिखा - "समाज-सेवा के लिये स्त्रियो का अविवाहित रह जाना सचमुच एक अत्यन्त ऊँचा आदर्श है । किन्तु ऐसी तो लाखो मे एक ही होगी ।"[1] एक समय था जब गाँधीजी ब्रह्मचर्य व्रत का खूब जोरो से प्रचार किया करते थे और विवाहित जीवन को दुर्बलता की निशानी मानते थे । इसलिये व पूर्ण समय समर्पित समाज-सेवको के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन श्रेयस्कर समझते थे । किन्तु, अनुभव से धीरे-धीरे उन्हे स्त्री-पुरूष दोनो के लिये इसमे व्यवहारिक कठिनाई एव अनिष्टकारी सम्भावनाए मालुम हुई । इसलिये सत्य-भक्त होने के नाते उन्होने विवाहित जीवन के उच्च आदर्श पर अपने विचार मे इस तरह प्रकट किया - "विवाह जीवन के

---

1 हरिजन - 22 1 1942

लिये एक स्वाभाविक वस्तु है, इसलिये इसको किसी तरह गौरवहीन मानना गलत है । यदि कोई व्यक्ति इनको अपना पतन मान लेता है तो फिर उनके लिये ऊँचा उठना कठिन है । इसलिये विवाह को एक पवित्र सस्कार समझना चाहिये और सयमित जीवन बिताना चाहिये। विवाहित या गार्हस्थ जीवन तो हिन्दू-समाज मे चार आश्रमो मे एक आश्रम है और यदि सच पूछा जाये तो शेष तीन आश्रम भी इसी पर आधारित है ।"[1]

गाँधीजी का विवाह के सम्बन्ध मे यह परिपक्व और प्रौढ-विचार मनु द्वारा प्रतिपादित सर्वमान्य हिन्दू-आदर्श के अनुरूप है, जो जैन और बौद्ध भिक्षुओ के द्वारा उपस्थित सन्यास के अतिवाद से दूर है ।

गाँधीजी ने लिखा है - "शरीर के द्वारा दो आत्माओ का मिलन ही विवाह का आदर्श है । इसमे दो मानव-प्रेम स्फुरित होता है उसी के माध्यम से हम विश्व-प्रेम या ईश्वर-प्रेम तक पहुँच सकते है ।"[2] गाँधीजी ने अपने व्यक्तिगत जीवन मे इसी आदर्श का पालन किया । उन्हे प्रत्येक स्त्री और पुरूष की अन्तर्निहित साधुता मे अखण्ड आस्था थी । वे सचमुच ऐसा विश्वास करते थे कि जिस प्रकार काम-वासना से युक्त एक साधारण व्यक्ति के स्तर से वे इस प्रकार ऊँचा उठ सके, उसी प्रकार कोई दूसरा व्यक्ति भी कर सकता है । स्त्रियो की काम-वासना के ऊपर सयम रखने की क्षमता मे उन्हे बहुत विश्वास था । इसलिये वे बराबर स्त्रियो से कहा करते थे कि वे पुरूषो की काम-वासना के ऊपर विजय-प्राप्ति मे सहायता कर शारीरिक सम्बन्ध के बदले आध्यात्मिक-सम्बन्ध बनावे ताकि दोनो मिलकर सत्यान्वेषण एव विश्व-प्रेम के मार्ग में आगे बढ सकें ।

इस प्रकार के आदर्श-जीवन के लिये मनु की तरह गाँधीजी भी इस पर जोर देना चाहते हैं कि संभोग का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही है । प्रकृति का भी यही सकेत

---

1 हरिजन - 22 1 1942

2 हरिजन -- 22 3 1942

है । इसलिये वे स्त्री–पुरूष दोनो को सभोग के पूर्व आर्थिक और पारिवारिक दायित्व को समझते हुये सन्तानोत्पत्ति करना चाहिये । इस प्रकार नैतिक–चेतना और आर्थिक जिम्मेदारी का बोध होने से ही जीवन मे आत्मसयम आ जायेगा । इस तरह वे व्यक्ति और समाज को पतित करने वाले क्षण स्थायी विषय–सुख को छोड देगे और सभोग केवल सभोग के लिये नही करेगे । विषयाशक्ति से किसी प्रकार की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति असभव है ।

इसलिये भारत और पाश्चात्य देशो मे कामोत्तेजक साहित्य, चलचित्र, सगीत, वेशभूषा आदि की बढती हुई प्रवृत्तियो को वे अत्यन्त खेदजनक मानते हैं । आधुनिकता और सभ्यता के ऊपर होने वाले धन्धे सचमुच पतन के लक्षण है । इसमे सबसे दुख की बात यह है कि इस प्रवृत्ति के कारण स्त्री केवल भोग--विलास की वस्तु बनकर रह जाती है । जिस सभ्यता मे पुरूष या नारी केवल विषय-भोग की वस्तु मानी जाये उसमे व्यक्ति की प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है । इससे सर्वनाश सुनिश्चित है । इतिहास साक्षी है कि जो–जो व्यक्ति और राष्ट्र विषय भोग मे डूबे रहे, उनका सर्वनाश होगया । गाँधीजी यह मानते थे कि नारी–शक्ति के जागरण से इस विषम स्थिति से हमे मुक्ति मिल सकती है। पुरूष ही अक्सर कामासक्त होता दीखता है । मातृ रूपा नारी–जाति मे तो अपार प्रेम और त्याग देखने को मिलता है । उन्हे नारी–शक्ति मे पूरा विश्वास है । वे समझते है कि स्त्रियाँ इस क्षेत्र मे नेतृत्व कर सकती है । उन्होने इस नारी शक्ति का आह्वान किया है – "यदि स्त्रियाँ यह भूल जाये कि वे पुरूषो के भोग–विलास की वस्तु है और यदि वे अपने अन्दर के अपार–प्रेम के माध्यम से सम्पूर्ण मानवता पर छा जाये तो फिर मातृ धातृ एव निर्मातृ -रूप धारण कर सकती है ।"[1] यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि गाँधीजी की धर्मपत्नी माता कस्तूरबा सचमुच इन आदर्शों की प्रति मूर्ति ही थी ।

एक महामानव के रूप मे गाँधीजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था । उनका चितन–क्षेत्र इतना व्यापक और कार्य–क्षेत्र इतना विस्तृत था कि उनके विराट व्यक्तित्व मे हमे

---

1 हरिजन – 24 2 1940

उनके मानव हितकारी अनेक रूपो का परिचय मिलता है ।

अकादमिक अर्थ मे गाँधीजी समाजशास्त्री नही थे । उन्होने समाजशास्त्र पर कोई पुस्तक नही लिखी । पर सामाजिक समस्याओ के समाधान के लिये उन्होने जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया अपने मूल–सिद्धान्तो–सत्य और अहिंसा की जो सामाजिक परिणति उन्होने हमारे सामने रखी, वह एक ऊँचे दर्जे के समाजशास्त्री की सी ही है ।

गाँधीजी ने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, धार्मिक क्षेत्रो मे विभिन्न प्रयोग किये, किन्तु उनके जीवन के कार्य–कलापों मे सामाजिक आविष्कारो का प्रमुख स्थान है । सामाजिक सत्यो के अन्वेषण मे उनकी दृष्टि एक वैज्ञानिक की ही रही है । जैसे एक वैज्ञानिक घटनाओ और तथ्यो के पर्यवेक्षण के आधार पर कल्पना करता है, फिर उसे प्रयोगो से सिद्ध करता है, वैसे ही गाँधीजी ने सामाजिक समस्याओ पर प्रयोग और परीक्षण किये और अपने जीवन को प्रयोगशाला बनाकर अपने निष्कर्षो और मान्यताओ को दूसरो के सामने रखा । इसलिये वे एक व्यावहारिक समाजशास्त्री का गौरवपूर्ण पद वे सहज ही पा जाते है । वे कहा भी करते थे कि , "जो वैज्ञानिक अपनी कल्पनाओ के प्रयोग अपने ऊपर नही करता, वह सच्चा वैज्ञानिक कहलाने का अधिकारी नही है ।" इस दृष्टि से गाँधीजी एक वैज्ञानिक ही नही, सच्चे वैज्ञानिक भी ठहरते है । उनकी आत्मकथा "सत्य के प्रयोग" के रूप मे लिखी गयी । फिर भी अपने प्रयोगो की सम्पूर्णता का दावा उन्होने कभी नही किया, जो एक वैज्ञानिक की पहचान है ।

गाँधीजी की कार्यपद्धति की महत्ता इस बात मे भी है कि उसका आम जनता के भावो, विचारों, साधनो और उनके अनुरूप, उनके सपनो से मेल बैठ जाता था । वे जानते थे कि समाज किस समय, किस सीमा तक किस विशेष परिवर्तन के लिये तैयार हो सकता है । वे जब कभी कोई सामाजिक परिवर्तन या सुधार लाना चाहते थे, उसके लिये पहले जनमत भी तैयार करते थे । सामाजिक परिवर्तनो के लिये कब, कैसा कदम

उठाया जाना चाहिये इसकी गहरी जानकारी रखते थे वे । इसीलिये उनके विचारो स असहमत नेता भी उनके पीछे चलते थे । जनमत की अवहेलना कोई भी नही कर सकता । आज के समाजशास्त्री भी चाहे तो उनके व्यावहारिक समाजशास्त्र से बहुत कुछ सीख सकते है तदनुरूप समाज को प्रेरित कर सकते है ।

गाँधीजी का 'अहिंसा' का प्रयोग कोई नया प्रयोग नही है । इसके पूर्व बुद्ध, ईसा, महावीर और अनेक सन्तो ने अहिसा की व्याख्या और वकालत की है । अतर इतना है कि उन सन्तो ने इसे समाज–नियमन का साधन और विदेशी दासता से लडने के लिये सार्वजनिक हथियार बनाया । अहिसा की यह सामाजिक धारणा गाँधीवाद की मौलिकता है और इसकी व्यावहारिक भूमिका की सफलता गाँधीजी की विशिष्ट देन ।

'सत्याग्रह' का सिद्धान्त भी कोई मौलिक–सिद्धान्त नही है । हमारी पौराणिक कथाओ मे प्रहलाद की कहानी सत्याग्रह का एक उज्ज्वल प्रमाण है । अनेक सतो महात्माओ ने हजारो वर्ष पूर्व सत्याग्रह का प्रयोग किया, परन्तु गाँधीजी की मौलिकता इसी मे है कि उन्होने इसे वैयक्तिक से सामाजिक बनाया और इस प्रकार मानव–समाज के इतिहास मे एक नया अध्याय खोला । उन्होने इसका सूत्र समाज की पारिवारिक इकाई मे से ही ढूँढा । परिवार के सदस्यो मे परस्पर प्रेम, ममत्व तथा तादात्म्य–भाव की प्रधानता रहती है, इसीलिये वहाँ किसी सदस्य की गलत बात को बिना बैर–भाव रखे, सत्याग्रह द्वारा सहन किया जाता है । हमारे घरो मे प्रतिदिन रूठना, भूख–हड़ताल करना, मान–मनव्वल, शर्तो के उचित आदान–प्रदान द्वारा अत मे सुखद परिणति या प्रेम–मिलन, ये सब क्रिया–कलाप सत्याग्रह के ही तो है, जिनमे वास्तविक सघर्ष, बैर–भाव, ईर्ष्या–द्वेष या मन–मुटाव के लिये कोई स्थान नही रहता । गाँधीजी ने इसी पारिवारिक भाव समाज मे कल्पना की, जिसमे सत्याग्रह द्वारा समस्याओ के निराकरण की व्यवस्था की गयी । इसीलिये सामाजिक पृष्ठभूमि मे इसका अध्ययन और प्रयोग मानव के लिये कितना कल्याणकारी हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नही ।

मार्क्स–लेनिन के समाजवाद और गाँधी के समाजवाद मे मुख्य अन्तर है, सघर्ष और समता का । सघर्षवादी दृष्टिकोण से मनुष्य को अपने हित के लिये प्रकृति से भी सघर्ष करना होगा और अपने सम्पर्क मे आने वाले मनुष्यो से भी । हित के आधार पर अनेक वर्ग खडे हो जाते है । मालिक के विरूद्ध मजदूर, शहर के विरूद्ध गाँव, स्त्री के विरूद्ध पुरूष । यहाँ तक कि पीढ़ी सघर्ष के नाम पर बाप के विरूद्ध बेटा भी । गाँधी वर्ग–सघर्ष नही, बल्कि वर्ग–निर्मूलन चाहते थे । जैसे सारी नदियाँ समुद्र मे आकर मिल जाती है, वैसे ही समाज मे सभी वर्गों के विविध हितो का सामञ्जस्य करना होगा । हमे सघर्ष नही, मथन चाहिये । दो लकडियो के घिसने से अग्नि पैदा होती है, जो दोनो को भस्म कर सकती है । इसी सघर्ष का परिणाम विनाश होता है, जबकि चितन से राह सूझती है, और मथन से मक्खन निकलता है । माँ–बच्चे को प्रेम से, ममता से छाती से लगाकर स्तनपान कराती है और बच्चा माँ की गोद मे भावात्मक सुरक्षा पाकर प्रसन्नता से, चाव से दूध पीता है । अब इसे बच्चे द्वारा अपने अस्तित्व के लिये स्तन से सघर्ष या माँ का दोहन कहना क्या उचित होगा ? यह तो प्रेम का, स्नेह का, भावात्मक सुरक्षा का मार्ग है ।

किसी के पास श्रम--शक्ति है, किसी के पास बुद्धि तो किसी के पास सम्पत्ति । पृथ्वी पर ऐसा कोई अभागा नही होता, जिसके पास कुछ न हो, क्योकि प्रेम की शक्ति तो सबमे है । समाज की समरसता के लिये यही शक्ति चाहिये । कार्य–विभाजन के सिद्धान्त से अलग--अलग शक्तियो का उपयोग करना और परस्पर आदान–प्रदान से, मिल–बाँट से तथा दूसरो के हित मे त्याग से सन्तुष्टि पाना सामाजिक सन्तुलन व समरसता का मार्ग प्रशस्त करना है । जहाँ इस उपाय से काम न चले, वहाँ सत्याग्रह का साधन अपनाया जा सकता है । साध्य कुछ भी हो, साधन की पवित्रता और निर्दोषता आवश्यक है । गाँधीजी ने इसी पर बल दिया ।

यह दृष्टि है सर्वोदय–विचार की दृष्टि है । आत्मा की एकता पर आधारित साम्य योग की दृष्टि है । पशिचमी दृष्टि से यह सर्वथा भिन्न है । "सरवाइवल आफ द फिट्टेस्ट"

और जीवन-रक्षा व जीवनोन्नति के लिये प्रकृति का अधिक से अधिक दोहन पाश्चात्य-दर्शन के मूल--सिद्धान्त है । जबकि भारतीय दर्शन मे प्रकृति के कण-कण से मनुष्य की समरसता दिखाई गयी है । हम वट-पीपल पूजते है, तुलसी चौरे पर दीप जलाते है, चिडियो को दाना चुगाते है, हर अनुष्ठान् मे से गाय, कुत्ते, कौवे का ग्रास निकालते है, द्वार पर आये साधु व अतिथि को लौटाते नहीं । इसीलिये जीव-जन्तु रक्षण व पर्यावरण-सरक्षण कभी हमारे सामने एक अलग विषय नही रहा है, न मिल--बाँट कर खाने की आदत के लिये हमे किसी बाहरी या राजनीतिक दबाव से बाध्य होना पडा । "सर्वे भवतु सुखिन' और "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाली इस भारतीय दृष्टि पर ही आधारित रही, गाँधीजी की 'राम-राज्य" की कल्पना । रामराज्य अर्थात् एक उन्नत व सभ्य समाज, जिसमे सबका समान हित समाहित है छोटे-बडे, गरीब-अमीर सभी का ।

गाँधीजी राज्य ओर समाज मे कोई भेद नही करते । उनकी मान्यता के अनुसार, एक उन्नत समाज मे राज्य की कोई आवश्यकता नही होगी । राज्य मनुष्य की असभ्यता का सूचक है । अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होने सर्वोदय समाज व रामराज्य के रूप मे एक आदर्श समाज की कल्पना की, जो उनके सत्य, अहिंसा सादगी, अपरिग्रह श्रमनिष्ठा, आत्म-निर्भरता और अभय के सिद्धान्तो पर आधारित है । आज की परिस्थितियो मे इस दृष्टिकोण को 'व्यवहारिक नही' कह कर इसकी उपेक्षा कर दी जाती है । लेकिन समाज को वर्तमान दुरावस्था से निकालना है तो इसी दृष्टिकोण को सफलता के लिये निश्चित मानकर व्यवहार मे लाना होगा ।

गाँधीजी एक वर्ग विहीन, शोषण, रहित, शान्तिपूर्ण प्रजातान्त्रिक आदर्श समाज के पोषक थे । उन्होने लिखा है कि "मै एक ऐसे भारत के निर्माण हेतु कार्य करूँगा जिसमे निर्धनतम् व्यक्ति भी यह गौरव अनुभव करेगा कि यह देश उसका है और इसके निर्माण मे उसकी प्रभावपूर्ण आवाज है । मै ऐसे भारत की रचना चाहूँगा जिसमे ऊँच-नीच का भेदभाव न हो । वह भारत ऐसा होगा जिसमें सभी वर्ग प्रेम से रह सके । ऐसे भारत मे

छुआछूत और मद्यपान और नशीली वस्तुओ के सेवन हेतु कोई स्थान नही होगा जिसम सभी वर्ग प्रेम से रह सके । ऐसे भारत मे छुआछूत, मद्यमान और नशीली वस्तुओ के सेवन हेतु कोई स्थान नही होगा । स्त्रिया को पुरूषो के समान अधिकार होगे । सभी देशो से मैत्री रखने के कारण हम विश्व के देशो के साथ शातिपूर्वक रह सकेगे । हम न किसी का शोषण करेगे और न कोई हमारा शोषण करेगा हमारे देश मे कम से कम सेना रहेगी । करोडो की सख्या मे मूक जनता के हितो का ध्यान रखा जायेगा । व्यक्तिगत रूप से मै देशी हूँ । मेरी कल्पना का भारत यही है ।"

गॉधीजी के उक्त कथन से स्पष्ट है कि गॉधीजी एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे, जिसमे जाति एव वर्ण भेद समाप्त हो और सभी व्यक्ति समान समझे जाये । वे उत्तराधिकार से प्राप्त जाति को नही मानते थे । उनका विचार था कि "वर्तमान जाति–प्रथा पूर्व की वर्णाश्रम व्यवस्था से पूर्णत विपरीत है । जनता जितना ही शीघ्र इसको नष्ट करे उतना ही श्रेयस्कर है । जाति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो राष्ट्रीय और आध्यात्मिक उत्थान हेतु आदर्श वातावरण का सृजन करे । ऐसे समाज की रचना का आधार सत्य, अहिंसा, प्रेम और न्याय होगा । व्यक्ति की जाति उसकी कार्यकुशलता के आधार पर ही निश्चित होगी । उनका कथन था कि "एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था तभी स्थापित की जा सकती है जब इस वर्ण–व्यवस्था को पूरी तरह समझकर क्रियान्वित किया जाये ।"

किन्तु क्या आज हम गॉधीजी के उक्त विचारो को अमल म ला रहे है । आज स्थिति ठीक इसके विपरीत हो गयी है । आज जाति और धर्म का जो विद्वेष देश मे फेल गया है, वह देश की विनाश की ओर ले जा रहा है ।

महात्मा गॉधी के सामाजिक विचारों पर वेदान्त का प्रभाव :

यदि हम महात्मा गॉधी के समाज सम्बन्धी विचारां पर दृष्टि डाले तो हम देखते है कि महात्मा गॉधी की ऋग्वैदिक कालीन सामाजिक संरचना के जिस सिद्धान्त को गॉधी ने

स्वीकार किया है उस पर वैष्णव वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पडता है । गाँधी का यह मानना कि ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के अनुसार समाज के चारो वर्णों की उत्पत्ति एक विराट पुरूष से हुयी है यही पुरूष सूक्त वैष्णव-दर्शन का आधार है । इस प्रकार गाँधी का सामाजिक-सरचना सम्बन्धी यह विचार 'वेदान्त' से प्रभावित है ।

गाँधी ने भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था मानते हुये वर्तमान जाति-प्रथा की तीव्र आलोचना की है । इनका यह विचार कि समाज को शरीर की तरह ही चलाने का प्रयत्न करना चाहिये । गाँधी का कथन है कि जिस प्रकार शरीर की रक्षा के लिये हम किसी भी साधन को बिना अच्छे-बुरे या ऊँचे-नीच का भेद किये जो आवश्यक होता है उसका उपयोग करते है । समाज को ठीक से चलाने के लिये सभी प्रकार के कार्यो, शिक्षा, रक्षा, कृषि, वाणिज्य एव सेवा की आवश्यकता है । ये सभी समान रूप से कर्तव्य समझकर करना चाहिये । इसमे ऊँच-नीच का भेद करना ही गलत है । चूँकि ये सभी प्रकार के कार्य समाज के लिये समान रूप से उपयोगी है । इसलिये सबको समान पारिश्रमिक मिलना चाहिये । कोई अपने को बड़ा या छोटा न समझे ।

हिन्दू-समाज की वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध मे गाँधीजी ने अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा है कि सभी वर्ण एक समान हैं कोई ऊँचा तथा नीचा नही है । गाँधी के इन विचारो पर यदि हम देखे तो अलवार वैष्णव सन्तों का प्रभाव दिखायी पडता है । अलवार सन्तों का भी विचार है कि सभी एक ही ईश्वर की सन्तान है कोई ऊँचा या नीचा नही है सभी वर्णों एवं जातियों के मनुष्यो को भगवद् भक्ति का समान अधिकार है । भगवद् भक्तो में वर्ण जाति और लिग का कोई भेद नहीं है । "जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि का भजे सो हरि का होई ।"[1]

समाज मे आर्थिक-समता लाने के बारे मे गाँधीजी का कथन है कि समाज मे आर्थिक-समता लाने से ही सुख और शान्ति का प्राप्ति होगी । परन्तु आर्थिक समता

कानून बनाकर नही लागू की जा सकती । इसके लिय गाँधीजी नैतिक चरित्र पर बल दत है । इनका विचार है कि कानून के माध्यम से कृत्रिम रूप से समानता लान से व्यक्तिगत पुरूषार्थ और नैतिक विकास का अवसर ही नही मिलेगा । इसके लिये हमे फिर अहिंसा ओर प्रेम के सिद्धान्त का सहारा लेकर जीवन मे अपरिग्रह एव अस्तेय-व्रत की ही साधना करनी पडेगी । अहिंसक समाज-व्यवस्था मे ही शोषण का सम्पूर्ण अन्त हो सकेगा । यदि आवश्यकता से अधिक मेरे पास कुछ है तो हम उसे दूसरो की भलाई के लिये खर्च कर देना चाहिये । गाँधीजी का कथन है कि "यदि हमे अपने पडोसियो के लिये सहानुभूति नही है तो कोई भी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना व्यर्थ होगा ।"[1]

शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त करते हुये गाँधीजी का कथन है कि शिक्षा का सही उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी गुणो की अभिव्यक्ति है । व्यक्ति का सर्वागीण विकास तभी हो सकता है जब शिक्षा मे ज्ञान के साथ कर्म और विचार के साथ आचार का समन्वय हो । विद्यार्थी जीवन मे गाँधीजी ब्रह्मचर्य व्रत के पालन को बहुत महत्त्व देते थे । इनका कथन है कि ब्रह्म-चर्य और आत्म-सयम स्वाध्याय के लिये आवश्यक है गाँधी की ही तरह वेदान्त मे भी कहा गया है कि मोक्ष की प्राप्ति या ज्ञान की प्राप्ति के लिये स्वाध्याय आवश्यक है ।

बुनियादी शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त करते समय गाँधीजी का कथन है कि बुनियादी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मनुष्य का आध्यात्मिक विकास करना है ।

उच्च-शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त करते हुये गाँधीजी कहते है कि हमे उस उच्च शिक्षा की आवश्यकता नही है जिसमें कि व्यक्ति का केवल बौद्धिक-विकास हो बल्कि हमे वह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये जिसमे कि शारीरिक या बौद्धिक विकास के साथ-साथ चरित्र-निर्माण, सद्गुण, साहस और महान् आदर्शों के लिये अपने को मिटा

---

1 आत्म--कथा

देने की तेयारी ही शिक्षा का उद्देश्य हो । सम्भव नही है बल्कि नैतिक-शिक्षण से ही व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति सम्भव हो सकती है ।

गॉधीजी के सम्पूर्ण शिक्षा-सिद्धान्त का मूलाधार यह है कि सत्य और करूणा के माध्यम से ही व्यक्ति और समाज की प्रगति हो सकती है । प्रत्येक व्यक्ति शरीर मन और हृदय से सुशिक्षित होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सत्य और करूणा की साधना करके ही व्यक्ति, समाज और मानवता अधिकाधिक सुख और आनद की दिशा मे प्रगति कर सकती है । इन विचारो पर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है क्योकि वदान्त मे भी 'सत्य' आधार मानकर ईश्वर, ब्रह्म, जगत, जीव की व्याख्या की गयी है ।

स्त्री-पुरूष की समानता के बारे मे गॉधीजी के विचार स्पष्ट रूप से वेदान्त से प्रभावित है वदान्त-दर्शन मे कहा गया है कि एक मात्र 'ब्रह्म' या 'आत्मा' ही सत्य है वही सारे जगत का आधार है जगत् मे सभी प्राणियो मे उसी आत्मा का वास है यही विचार गॉधीजी का भी है इनका कथन है कि स्त्री-पुरूष दोनो ही एक समान है दोना मे एक ही आत्मा विद्यमान है दोनो का आधार एक है इसलिये दोनो मे भेद कैसा ? स्त्री--पुरूष मे भेद करके देखना दोनो की आधारभूत आध्यात्मिक एकता की उपेक्षा करना आज के युग मे फैशन हो गया है जबकि ऐसा नही होना चाहिये ।

इस प्रकार हम देखते है कि गॉधीजी के समस्त सामाजिक विचारो पर चाहे वे आर्थिक-समता सम्बन्धी विचार हों या शिक्षा, स्त्री-पुरूष की समानता सम्बन्धी सभी पर किसी न किसी रूप मे वेदान्त का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

XXXXXXX

अष्ट म -अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

"यदि हमे प्रगति करनी है तो केवल इतिहास की पुनरावृत्ति ही नही करनी होगी, हमे नये इतिहास का निर्माण भी करना होगा । हमारे पूर्वजो ने जो परम्पराये बनायी है, उनमे कुछ अपना भी अवदान हमे देना होगा । यदि हम पश्चिम का अन्धानुकरण करने मे ही लगे रहेंगे तो फिर हमारा आध्यात्मिक विकास अवरूद्ध हो जायेगा । इसके अपवाद भी हो सकते है किन्तु अपवाद नियम नहीं बन सकते । यह जरूरी नही कि पहले हमारा अद्यपतन हो जाये, उसके बाद ही हम आध्यात्म का अमृत पीकर मानव बने ।"[1]

महात्मा गाँधी का अस्सी वर्ष का लम्बा जीवन वस्तुत आध्यात्मिक प्रयोगो की ही एक अविच्छिन्न श्रृखला है । समकालीन चिन्तको ने गाँधीजी को इतिहास के महान् व्यक्तियो मे स्थान इसलिये नही दिया कि उन्होने किसी नवीन सत्य की खोज की, बल्कि इसलिये कि उन्होने विश्व के महापुरूषो के अमृतोपम उपदेशो को राजनीतिक जीवन में चरितार्थ कर दिखाया ।

गाँधीजी ने अपने प्रयोग दक्षिण अफ्रीका एवं भारत के चालीस कोटि मानवो के साथ 50 वर्षो तक किये । वे हमेशा अत्यन्त विनम्र भावना से एक सच्चे प्रयोगकर्ता की तरह अज्ञात एव अपरिचित क्षेत्रो मे भी सत्य का अन्वेषण करते रहे । उनमे इतनी विनम्रता थी कि वे बराबर इसको स्वीकार करते थे कि उनका आदर्श उनकी वास्तविक उपलब्धियों से काफी दूर है । फिर भी व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक अन्यायो के विरूद्ध अपने अहिसात्मक संघर्ष मे उन्होने बार-बार जो सफलताए पायी, उनसे उनका आत्मविश्वास तो बढा ही साथ-साथ दुनिया भर के चितनशील राजनेताओ का, यहाँ तक कि कुछ अपने विरोधी अग्रेजों का भी मानस बदला और वे बहुत प्रभावित हुये ।

विगत् दो विश्व युद्धो की विभीषिका के बाद आज मानव का राक्षसी रूप हमारे

---

1 यग-इण्डिया - 5.5 1926

सामने आ गया है । आज तो मानव की अन्तर्निहित साधुता मे मानो हमारी आस्था ही टूटना चाहती है । अत्यत सभ्य कहलाने वाले देश भी आज युद्ध के निराकरण क लिये भीषण युद्ध की तैयारी मे लगे हुए दीखते है । सदियों का उनका शाति का आदर्श जैसे ताक पर रख दिया गया हो । आज तो विश्वभर मे एक प्रकार का अत्यन्त निष्ठुर और भयानक-से-भयानक अस्त्र--शस्त्रो का निर्माण कर रहे है । दुर्भाग्य से आज जनतान्त्रिक देश भी ज्ञात या अज्ञात रूप से अपनी जनतान्त्रिक परम्परा के सरक्षण के लिये निरकुश पद्धतियो को अपना रहे है । अत्यधिक करों के बोझ से दबे हुए नागरिक, अनाथ बच्चे, विधवाएँ, विस्थापित एव दुखी अपमानित व्यक्ति आज हर देश मे युद्ध के नाम से ही सिहर उठते है ।

इस भयानक स्थिति मे गाँधीजी के अहिंसात्मक जीवन और प्रयोग का विशेष महत्व है । काश ! आज हम उसको अपना सकते । सत्य के एक सच्चे एव विनम्र पुजारी होने के नाते गाँधीजी ने अपने अनुयायियो से बराबर कहा कि सत्य जहाँ भी, जिसके पास भी हो, उसे स्वीकार करना चाहिये । उन्होने अपनी समस्याओ के समाधान के लिये देश और सस्कृति की प्रतिमा के अनुरूप ही अहिंसात्मक सघर्ष का अधिक और प्रभावकारी मार्ग ढूँढ निकाला ।

गाँधीजी की यह सबसे बड़ी शिकायत थी कि बाह्य प्रकृति के रहस्यो को जानने के लिये इतना अधिक समय, शक्ति और साधन लगाया जा रहा है लेकिन मानव-प्रकृति के अतराल मे गम्भीर रहस्यो के भेदन के लिये शायद नही के बराबर प्रयत्न किया जा रहा है । अपने को अत्यन्त सभ्य कहलाने वाले राष्ट्र भी मानव-प्रकृति को स्वभावत दुष्ट और पशु मानकर उसी के आधार पर मानव सम्बन्धों की कल्पना करते हुये अपनी सम्पूर्ण वैज्ञानिक प्रतिभा एव साधन संहारक अस्त्र--शस्त्रों के निर्माण मे लगा देते है ताकि मानव की पशुता पर भय और हिसा के माध्यम से नियन्त्रण रखा जा सके । इस प्रकार हिंसा के माध्यम से शत्रु का सहार कर मानव अपने और अपने शत्रु को दानव बना देता है ।

गाँधीजी के सम्पूर्ण सामाजिक एव राजनीतिक प्रयोग, मानव प्रकृति एव मानव समाज के नैतिक आधार की मान्यता पर टिके हुये है । मानवता की प्रगति तो व्यक्ति समाज और देश की नैतिक प्रगति पर निर्भर है जिसका अर्थ है सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह की दिशा में हमारी प्रगति । किन्तु गाँधीजी ने बताया कि हमारे नैतिक पुनरूत्थान के लिये भी हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के मूल्यो मे भी भारी परिवर्तन लाना होगा । जीवन--स्तर को ऊँचा करने की आज पशिचम और पूरब, दोनो ही ओर के देशो मे धूम मची हुई है । किन्तु, हमे यह समझना चाहिये कि यद्यपि आर्थिक प्रगति आवश्यक हे, किन्तु मनुष्य के लिये केवल वही सब कुछ नही है । आर्थिक–प्रगति पर एकतरफा जोर देने से ससार मे दुख एव संघर्ष पैदा होते है । गाँधीजी का तो कहना था "अर्थशास्त्र वस्तुत अर्थशास्त्र है जो मानव के नैतिक मूल्यो की उपेक्षा करता है ।"

आधुनिक जीवन--पद्धति के विभिन्न पक्षो पर दृष्टिपात करने से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक सभ्यता नैतिकता के आधारभूत आदर्शों को भुलाकर धीरे–धीरे किस प्रकार मानव को नैराश्य एवं नाश के गर्त मे गिराती जा रही है और किस प्रकार एक के बाद दूसरे युद्ध से हर जगह मानव समाज की नैतिक बुनियाद ही हिल रही है ।

सच्चाई के प्रति उत्तरोत्तर बढती हुई उपेक्षा की भावना आज सबसे अधिक व्यापारिक क्षेत्रों में दिखायी पडती है जहाँ झूठे विज्ञापन के कारण स्वस्थ प्रतियोगिता का अवसर ही समाप्त होता जा रहा है । चाहे नागरिक या सैनिक क्षेत्र मे हो, आधुनिक प्रचार और विज्ञापन–तन्त्र आधुनिक मनोविज्ञान की मदद से अपने को इतना सम्पन्न कर चुका है कि अर्द्धसत्य ही नही, असत्य को भी बनाकर हमारे सामने व्यामोह पैदा कर देता है । इसका सबसे बुरा परिणाम यह होता है कि जो वास्तव मे बिल्कुल सत्य है उस पर भी शका होने लगती है । आज यह निर्विवाद है कि राजनेताओ के आश्वासनो के बावजूद जनता को उतना भी विश्वास नही रह गया है जितना कि पहले एक अबोध एव अनपढ ग्रामीण व्यक्ति के वचनो पर होता था । इस प्रकार के बढते हुए अविश्वास एवं असत्य के वातावरण

मे भला किसी प्रकार का राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव कैसे सम्भव है ।

बडे उद्योगो एव सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण ससार मे आज जो बडे-बडे नगर बनते जा रहे है, वे अपराधो और दुष्कर्मों के भी उतने ही बडे केन्द्र है । वहाँ अपराधो के लिये अद्यतन वैज्ञानिक तकनीक एव कौशल का प्रयोग हो रहा है । लेकिन आज समाज के लिये सबसे अधिक घबराहट की जो बात सिद्ध हो रही है वह दूसरी है । वैज्ञानिक साधनो से सम्पन्न तरूणो मे आज अनावश्यक रूप से मासूम बच्चो, स्त्री एव पुरूषो को पीडा देने की एक दुष्प्रवृत्ति का जन्म हुआ है, जो विगत् युद्ध के कारण व्याप्त भ्रष्ट वातावरण से उत्पन्न हुआ है और जिसने समाज मे हिसा की वृत्ति और भावना पूरी फैला दी है । यह ध्यान देने की बात है कि हिटलर का नाजी-आन्दोलन जर्मनी मे पहले विश्वयुद्ध के कारण भ्रष्ट एव निराश तरूणो के संगठन से ही शुरू हुआ था । प्राचीनकाल के मल्ल युद्ध की तुलना मे आधुनिक वैज्ञानिक युद्ध अधिक भयानक और सहारक हो गया है । आज तो कोई बिना किसी क्रोध या प्रतिहिंसा की भावना से या युद्ध से उत्पन्न मानव-जीवन और उसके महानाश की कल्पना किये बिना एक छोटा-सा स्वयचालित बटन दबाकर सम्पूर्ण विश्व में हाहाकार मचा सकता है ।

एक समूह या राष्ट्र द्वारा दूसरे का शोषण तो गाँधीजी द्वारा बताये गये "अस्तेय-व्रत" का उल्लघन है । शोषण से उत्पन्न सम्पत्ति के असमान वितरण के कारण ही आज बहुत सारी राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विताएँ और क्रान्तियाँ होती है । फिर हिंसा के माध्यम से सम्पत्ति का समान वितरण होता है । इसमें व्यक्तिगत पुरूषार्थ और अभिक्रम का कोई स्थान ही नही रहता । लेकिन, हमें यह भी समझना होगा कि जब तक व्यक्तिगत अभिक्रम केवल मुनाफाखोरी का साधन बना रहेगा तब तक इस प्रकार की खूनी क्रान्तियाँ रूकेगी नही ।

उसी प्रकार "अपरिग्रह-व्रत" का स्वेच्छापूर्वक पालन नही करने के कारण भी समाज मे विषमता बढ रही है । इसी कारण आज समाज मे कितनी ही कुत्सित बाते फैल

रही है । असयमित मद्यपान एव नशाखोरी, अनियंत्रित उत्तजना एव उभाडन वाली वृत्तिया, वासना-युक्त, कामोत्तेजना, मिश्रित यौन-सम्बन्ध आदि-आदि आज हमारे साहित्य और जन-जीवन मे दृष्टिगोचर हो रहे है । किन्तु दुख की बात तो यह है कि झूठी आध्यात्मिकता और प्रगति तथा असामान्य मनोविज्ञान की कुछ अनगढ कल्पनाए और अर्द्धसत्य सिद्धान्तो के आधार पर इन निरर्थक एव गन्दी बातो को समर्थन देने का प्रयास किया जाता है । किन्तु इनके विनाशकारी परिणाम आज अधिक स्पष्ट हो रहे है जबकि मनस्ताप, नैराश्य, दुखी दाम्पत्य जीवन, अविवाहित मातृत्व और इसी प्रकार की अन्य कष्टकारक घटनाए समाज मे व्यापक रूप से फैल रही है ।

नैतिक-जीवन मे इस प्रकार की अस्वस्थ घटनाये आज पूरब और पश्चिम, दोनो देशो मे एक ही तरह से फैलती जा रही है । प्रतीची की भौतिक तथा महान् यात्रिक और औद्योगिक प्रगति से अत्यन्त प्रभावित होकर आज प्राचीन मानव अपने नैतिक और आध्यात्मिक परम्पराओ मे अपना विश्वास खोकर पाश्चात्य जगत का अधानुकरण कर रही है ।

आधुनिक सभ्यता के पतन की कहानी अत्यन्त दुखपूर्ण हे । इसके उद्वार के लिये इसके दुखो का यथार्थवादी निदान और उसके लिये दृढ संकल्प आवश्यक है । आज इस बात का वैज्ञानिक प्रमाण भी है कि इस पृथ्वी पर मानव को आये लगभग बीस लाख साल बीत चुके है । इस बीच गाँधीजी के सामने न जाने कितने सकट आये होगे और कितनो का उसने सामना कर सफलता पायी होगी । जिस भौतिक एव नैतिक कारणो से इस बीच मानव अस्तित्व कायम रहा, हमे उसकी छानबीन करनी चाहिये । सभी मानव-समाज और दुनियाँ के सभी धर्मों के आधारभूत नैतिक आदर्श एव सिद्धान्त प्राय वही है जो मानव मात्र को एकता के सूत्र में पिरोये हुए है । उन्होने पापो से उसको बचाया है, वरना उसका सत्यानाश हो जाता । मनुष्य उन नैतिक आदर्शो का ही जीवन के सभी क्षेत्रो में पालन करने के लिये कृतसकल्प होकर आधुनिक युग के सकटो को भी पार कर सकता है ।

लेकिन मानव की नैतिक और आध्यात्मिक प्रेरणाए अभी समाप्त नही हुई है। इसी कारण वर्तमान परिस्थिति में भी समाज का पूर्ण विघटन और मानव–समाज का सम्पूर्ण विनाश नही हो सका है। विज्ञान, उद्योग और औद्योगिक समाज के अत्यन्त तेजी से विकास से समुत्पन्न कई प्रकार की नैतिक समस्याओ के कारण ही आधुनिक युग का यह नैतिक सगठन प्रादुर्भूत हुआ है। सहज–सुलभ यातायात के कारण इतनी तेजी से विभिन्न देशो के परस्पर सामीप्य के कारण भी इसमें वृद्धि हुई है। अब तक हमे न तो प्रकृति और मानव–मस्तिष्क सम्बन्धी नवीन तथ्यो तथा सिद्धान्तो के साथ मानव को अच्छी तरह से अभियोजित करने का पूर्ण अवसर मिल सका है और न यन्त्रो के द्वारा प्राप्त विराट् भौतिक शक्ति को सुन्दर ढग से अभियोजित करने का वर्तमान सकट एक प्रकार की चेतावनी है। हमे भौतिक और मानसिक शक्तियो के विकास के अनुपात मे ही अपनी नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति का विकास करना चाहिये।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में हमारी आधारभूत नैतिक वृत्तियाँ अभी भी सक्रिय देखने को मिलती हैं। इनकी कुछ अभिव्यक्तियाँ समाचार–पत्रों के पृष्ठो पर मिलती हैं जो समाज के इन पापों और कलको के विवरणों से भरे रहते है। क्रूरता, भ्रष्टाचार, धन–लिप्सा आदि की घटनाये जब इन समाचार–पत्रों के मुख्य शीर्षक के रूप में प्रकट होकर समाज की नैतिक अराजकता का उद्घोष करती रहती हैं, वैसे समय मे भी राहत के तौर पर हमे कभी–कभी किसी व्यक्ति मे बुद्ध एवं ईसा–सदृश करूणा का दर्शन होता है, जब वह नदी की बहती धारा या भयकर आग के प्रकोप से किसी बच्चे या अन्य किसी जीवन को जान को जोखिम में डालकर बचाता है।

यदि हम देखें तो इस प्रकार की अनेक घटनाये हमे मिल सकती है। गाँधीजी का जीवन–चरित्र भी इस अंधकार–युग मे एक प्रकार के स्तम्भ के रूप मे ही है। उनके जीवन मे हम पाते है कि बुद्ध, सुकरात और ईसा मसीह आदि के उदान्त नैतिक आदर्शों का जीवन के सभी क्षेत्रो मे, यहाँ तक कि पापमय राजनीति में भी पालन किया जा सकता है।

मनुष्य तभी तक जी सकता है जब तक उसको अपने मे आशा एव विश्वास हो । इसी प्रकार की आस्था एव संकल्प के कारण गाँधीजी एक साधारण व्यक्ति से कोटि-कोटि लोगो के मसीहा बन गये । सत्य और अहिंसा के माध्यम से उन्होंने जो कुछ किया वह सब आधुनिक युग मे चमत्कार जैसा लगता है । उनके सुन्दर एव अपूर्ण-कामो को पूर्ण करने की जिम्मेदारी विश्व के सभी स्त्री-पुरूषो पर और विशेषकर पौरूष और अभिप्राय से पूर्ण विश्व की युवा पीढी पर है, जो विश्व का नैतिक नेतृत्व कर सके । यह नैतिक नेतृत्व किसी पर जबरदस्ती नही लादा जा सकता ।

तो अध स्वार्थ-भावना के ऊपर विवेक और प्रेम की विजय है । यह अपने सुधार के साथ-साथ दूसरे के सुधार का रास्ता है । यह तो ऐसी जीवन पद्धति है, जिसमे अपने को पूर्णता की दिशा मे लाने के लिये सेवा के माध्यम से अनेक अवसर है । यह अपना पूर्ण विकास करने की शाश्वत प्रक्रिया है, जिसका मानव प्रयत्न और भू, सफलता एवं असफलता आदि के माध्यम से आदिकाल से प्रयोग कर रहा है । आधुनिक युवा पीढ़ी इस प्रक्रिया को यदि चाहे तो तेज कर सकती है । फिर अपने और आगे की पीढ़ी के लिये अधिकाधिक शाति और सुःख का मार्ग प्रशस्त होगा ।

xxxxxxxxx

संदर्भित ग्रन्थ–सूची

हिन्दी ग्रन्थ

1 हरिजन – महात्मा गाँधी

2 गाँधी और साम्यवाद – किशोरीलाल मश्रुवाला

3 बापू के आशीर्वाद – 25 नवम्बर, 1944

4 आत्मकथा या सत्य के प्रयोग -- महात्मा गाँधी

5 हिन्द – नवजीवन – 29 जनवरी, 1925

6 हरिजन – सेवक – 15 जुलाई, 1947

7 प्रार्थना प्रवचन – 6 नवम्बर, 1947

8 महात्मा गाँधी का समाज–दर्शन – महादेव प्रसाद 'हरियाणा ग्रन्थ अकादमी'

9 मार्क्स, गाँधी और समसामयिक सन्दर्भ – गणेश मत्री

10 महात्मा गाँधी जीवन और दर्शन – रोमारोलो अनुवादक प्रफुल्ल चन्द्र ओझा 'मुक्त'

11 हिन्दू धर्म – महात्मा गाँधी, नवजीवन पब्लिशिग हाउस अहमदाबाद – 1958

12 महात्मा गाँधी – एस0 राधाकृष्णन् (उनके जीवन सम्बन्धी लगभग 100 निबन्धो का सग्रह) जी0 एलेन एण्ड अनविन लि0, लदन 1948

13. अमृतवाणी – रामनाथ 'सुमन'. इलाहाबाद, 1943

14 अनारावित्त योग – कलकत्ता, 1934

15 अनीति की राह पर -- दिल्ली, 1942

16 गाँधी–वाणी – रामनाथ 'सुमन', इलाहाबाद

17 सर्वोदय – महात्मा गाँधी

18 ब्रह्मसूत्र भाष्य – शकराचार्य

19	वृहदारण्यको भाष्य कार्तिक	–	शकराचार्य
20	श्री भाष्य	–	रामानुजनचार्य

पत्र–पत्रिकाएँ

हिन्दी :

1	नया समाज	–	कलकत्ता
2	सर्वोदय	–	वर्धा
3	सत्याग्रही	–	गोरखपुर
4	आरोग्य	–	गोरखपुर

अंग्रेजी - ग्रन्थ

1. Hind Swaraj or Indian Home Rule, Ahmedabad 1946.
2. Satyagraha (1910-35), Allahabad , 1935.
3. Selections from Gandhi (Ed. Bose N.K.) Allahabad 1940.
4. The Story of my Experiments with Truth, 2 Vols, Ahmedabad, 1946.
5. Women and Social Injustice, Ahmedabad, 1945.
6. Young India (Selections) I. (1919-22), II (1924-28).
7. The Life of Mahatma Gandhi, Harper, New York, 1957.
8. Files of Harijan up-to-date, (Published from Ahmedabad).
9. Gandhiji in Indian Villages - Mahadev Desai, Madras, 1927.
10. How does Mahatma Gandhi live at Sevagram, 1940.
    - Mahadev Desai
11. The Story of Badoli - Ahmedabad 1929.
    - Mahadev Desai
12. A Week with Gandhi - Louis Fischer, 1943

23. Ends and means- Aldous Huxley, London, 1938.

English:

24. With Gandhiji in Ceylon- Mahadev Desai, Madras, 1928.

25. Un to This Last - John Ruskin, Agra, 1927.

26. History of Dharma Sastra, Vols. II & III - P.V.Kane.

1. Gromodyaga Patrika, Wardha
2. Hanjan, Ahmedabad.
3. Modern Review, Calcutta.